

पंख और पतवार

केदारनाथ अग्रवाल

पंख और पतवार

केदारनाथ अग्रवाल



साहित्य भंडार

इलाहाबाद 211 003

ISBN : 978-81-7779-186-9



प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद-3

दूरभाष : 2400787, 2402072



लेखक

केदारनाथ अग्रवाल



स्वत्वाधिकारिणी

ज्योति अग्रवाल



संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2009



आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल



अक्षर-संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद-2

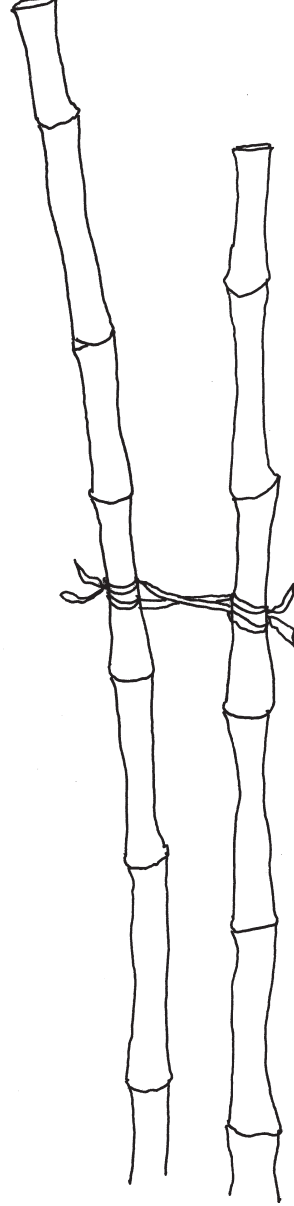


मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद-3



मूल्य : 200.00 रुपये मात्र

पंख और पतवार



प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक त्रिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

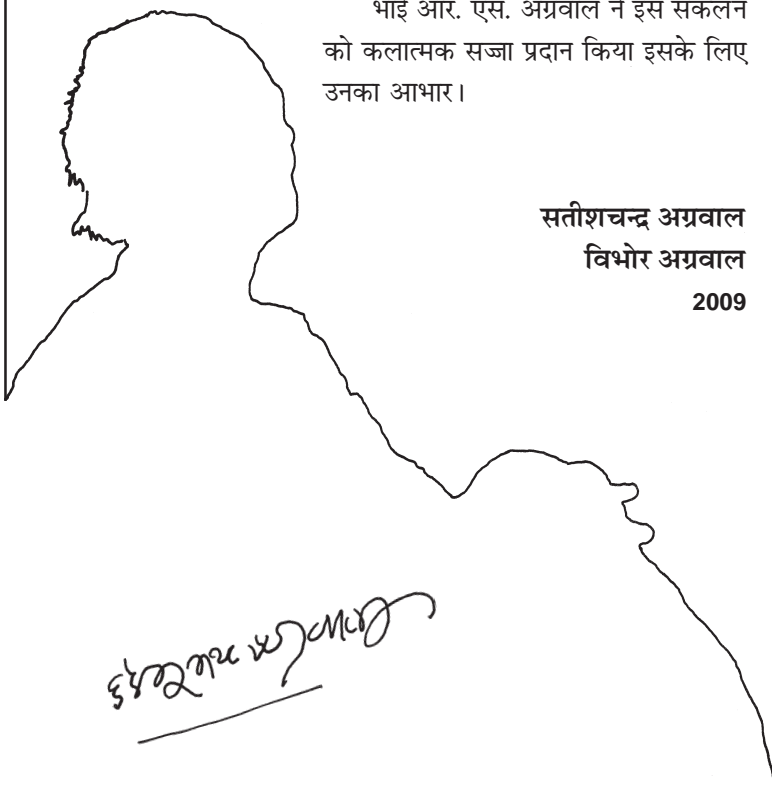
एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक त्रिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल

विभोर अग्रवाल

2009


सतीशचन्द्र अग्रवाल

अशोक और ज्योति
को
सस्नेह

भूमिका

कविता, कोई भी हो, किसी की हो, किसी भी युग की हो और किसी भी भाषा में लिखी गयी हो, शब्द और अर्थ की संहति दी हुई कृति होती है।

संहति में ही कविता व्यक्त होती चली आयी है और भविष्य में भी संहति में ही व्यक्त होती रहेगी।

संहति-विहीन कृति कविता नहीं होती, भले ही विकृति हो।

कृति तभी विकृति की संज्ञा पाती है जब उसमें प्रयुक्त हुए शब्द, संकेतबद्ध संस्कारों की क्षमता के संवाहक न होकर, केवल कृतिकार की निस्संग वैयक्तिकता की एकाकी आत्मनिष्ठा के संवाहक होते हैं। ऐसी एकाकी आत्मनिष्ठा के संवाहक शब्द अर्थवंत नहीं होते।

अर्थवंत शब्दों के अभाव से विकृति हुई कृति-निस्संग वैयक्तिकता की एकाकी आत्मनिष्ठ कृति-सृष्टि की सृष्टि नहीं होती, अपितु सृष्टि-विहीन सृष्टि होती है। इस सृष्टि-विहीन सृष्टि में वे सभी तत्व और तथ्य नहीं होते जो सृष्टि में पाये जाते हैं और आदमियों द्वारा अपनाये जाते हैं। तत्वात्मक और तथ्यात्मक न होने की वजह से सृष्टि-विहीन सृष्टि स्वयं में सम्पुटित होकर दूसरों के लिए निरर्थक, अबूझ रचना-इकाई बन जाती है। ऐसी निरर्थक, अबूझ रचना-इकाई का कोई मानव-मूल्य नहीं होता। मानव-मूल्य न रहने से ऐसी रचना-इकाई सामाजिक स्वीकरण पा सकने में असमर्थ होती है। सामाजिक स्वीकरण न पा सकने से वह दूसरों की चेतना में पैठ नहीं पाती और उनकी मानसिकता को प्रभावित और रूपायित नहीं कर पाती और इस प्रकार वह, वह सब कुछ, कर नहीं पाती जो कविता को करना चाहिए और जिसे आज तक वह करती चली आयी है।

स्वयं में सम्पुटित हुई इस सृष्टि-विहीन सृष्टि की अवतारण करने वाले कृतिकार यह समझते हैं कि उनकी वैयक्तिकता और उनकी आत्मनिष्ठता उन्हें उनके भीतर से प्राप्त होती है जिसका निरूपण और रूपांतरण उनके

बाहर से नहीं होता। वस्तुनिष्ठता को वह अपनी वैयक्तिकता और आत्मनिष्ठता के लिए, कतई जरूरी नहीं मानते। तभी तो वह वस्तुनिष्ठता की उपेक्षा करते हुए निरंतर उससे मुँह मोड़े रहते हैं। परिणाम यह होता है कि उनकी आत्मनिष्ठता का निरूपण और रूपांतरण एकांगी और संकीर्णकाय हो जाता है। उसकी यह एकांगिकता और उसकी यह संकीर्णकायिकता वस्तुनिष्ठता को प्रभावित कर सकने में पूर्णतया अक्षम बनी रह जाती है।

इसके विपरीत, लेनिन की अवधारणा अत्यन्त वैज्ञानिक और महत्वपूर्ण है। वह कहते हैं :-

"Cognition is the eternal, endless approximation of thought to the object. The reflection of nature in man's thought must be understood not lifelessly, not 'abstractly', not devoid of movement, not without contradictions, but in the eternal process of movement, the arising of contradictions and their solution."

आत्मनिष्ठ कृतिकार संज्ञान (Cognition) की इस धारणा की सरासर उपेक्षा करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रेरित कृतिकार ऐसे संज्ञान की अवधारणा को स्वीकार करते हैं और उससे लैस होकर अपनी सर्जनात्मक चेतना को बनाते हैं, उसका निरूपण और रूपांतरण करते हैं, रचना-प्रक्रिया से गुजरते हुए, वस्तुनिष्ठता से प्रभावित होते हुए, आत्मनिष्ठ होते हैं, और तब, जीवन के रंग-रूप की समग्रता को लिये हुए, भाषा-बद्ध कृतियाँ प्रस्तुत करते हैं। इन कृतियों में आयी हुई सृष्टि सार्वजनिक होती है। इनमें व्यक्त चेतना, कृतिकारों की चेतना होते हुए भी दूसरों की चेतना से सम्बद्ध और सम्पृक्त होने की क्षमता रखती है। इनमें व्यक्त चेतना कृतिकारों की वैयक्तिकता का अपहरण किये हुए नहीं होती, वरन् वह वैयक्तिकता के उन आयामों को समोये हुए होती है जो जन-जीवन के लिए दरकार होते हैं और जिनसे कृतिकारों और दूसरे आदमियों की एकात्मता स्थापित होती है। कृतिकारों की चेतना इसी तरह से व्यापक प्रसार पाती है और तब वह छुद्र संकुचितकाय इकाई के बजाय जन-मानस की प्रियतर समष्टित निधि बन जाती है।

आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता का बहुत गहरा सम्बन्ध सम्प्रेषणीयता से है। कविता जितनी अधिक आत्मनिष्ठ होती चली जायेगी वह उतनी ही अधिक सम्प्रेषणीयता का परिहार करती चली जायेगी। हो सकता है कि किसी

कुशल आत्मनिष्ठ कृतिकार की कुछेक कृतियाँ अल्पांश में सम्प्रेषणीय बनी रह सकें। वैसे आमतौर से आत्मनिष्ठ कृतियाँ सहजतया सम्प्रेषणीय नहीं होतीं। उनके सम्प्रेषणीय न होने की वजह बहुत स्पष्ट है। उनमें वस्तुनिष्ठता का प्रतिबिम्बन (reflection) कम-से-कम होता हुआ अन्ततः समाप्त हो जाता है। प्रतिबिम्बन की ऐसी कमी से और उसके ऐसे समाप्त हो जाने से कृति में कृतिकार का वस्तुनिष्ठ इन्द्रिय-बोध आ ही नहीं पाता और अगर आया भी तो नाममात्र को आया हुआ होता है। वस्तुनिष्ठ इन्द्रिय-बोध ही तो कृतिकार की अवगतता निर्मित करता है। जब कृतिकार अपनी अवगतता को परिवेश की समग्र वस्तुनिष्ठता से अलग कर लेता है और अन्तर्मुखी होकर अपनी आत्मनिष्ठता में डूब जाता है तब वह बन्द इकाई हो जाता है और फिर भीतर-ही-भीतर अपनी निस्संग निजता से जूझने लगता है और जूझते-जूझते निजत्व को ही रचने लगता है जो उसकी कृति होकर प्रकट हो जाता है। ऐसी कृति में व्यक्त निस्संग निजता कृतिकार की निस्संग मानसिकता होती है। यह मानसिकता दूसरों की मानसिकता से भिन्न होती है। तभी तो यह मानसिकता दूसरों की मानसिकता में रच-पच नहीं पाती। नतीजा यह होता है कि दूसरों का इन्द्रिय-बोध-जग नहीं पाता और उसके जग न पाने से वे अवगतता से वंचित रह जाते हैं और कृतिकार की रचना का मर्म समझ नहीं पाते। दूसरे तो अभ्यस्त होते हैं परिवेश की वस्तुनिष्ठता से उद्वेलित होने के और उससे अवगतता प्राप्त करने के। तभी तो वे वस्तुनिष्ठता के अभाव में निस्संग निजता की मानसिक कृति को आत्मसात् नहीं कर पाते। इसीलिए कहा जाता है कि कृति में वस्तुनिष्ठता को बराबर बनाये रखना चाहिये। ऐसा न होना चाहिए कि वस्तुनिष्ठता कृतिकार की आत्मनिष्ठता का कारण तो बने लेकिन कारण बनकर वहीं से गायब हो जाये और वह आत्मनिष्ठ वस्तुनिष्ठता का स्वरूप न पाये, न ही कृति में आयी हुई समबद्ध और सम्पृक्त सृष्टि हो।

वस्तुनिष्ठता को ही सर्वस्व मानने वाला कृतिकार भी जब आत्मनिष्ठता की उपेक्षा करने पर तुल जाता है, चाहे अपने स्वभाव की वजह से हो, चाहे अपनी शिक्षा-दीक्षा की वजह से हो, तब वह भी अति के छोर पर पहुँच जाता है और ऐसी स्थिति में वह जो कुछ भी लिखता है वह केवल वस्तुनिष्ठ विवरण होता है जो सतही सपाट बयानी के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। बहुत हुआ तो वह नारेबाजी हो गया। किसी सिद्धान्त का प्रतिपादनमात्र हो गया।

इस विवरण में-इस प्रतिपादन में-कृतिकार की आत्मनिष्ठता का अभाव ही रहता है। कृतिकार की आत्मनिष्ठता ही तो प्रतिबिम्बन से प्राप्त हुई वस्तुनिष्ठता को अपनी तरह से निरूपित करती है और उसे मानवीय मानसिकता देती है और फिर एक नयी सृष्टि के रूप में नयी कृति देती है। इस नयी कृति से ही दूसरे प्रभावित होते हैं और तब उनकी वस्तुनिष्ठ अवगतता आत्मनिष्ठ अवगतता में बदल जाती है। यह वैज्ञानिक सत्य है। प्रत्येक अच्छी कृति में इस सत्य का समावेश रहता है।

कृतिकार की आत्मनिष्ठ वस्तुनिष्ठा वाली कृति सम्प्रेषणीय होकर भी यदि कलात्मक न हुई तो वह जहाँ-की-तहाँ पड़ी रह जाती है और वैसी ही कृतियों के समूह में खो जाती है। कलात्मक कृति अपनी निजता में साधारण को विशिष्ट बना देती है। विशिष्ट बना साधारण मौलिकता से सम्पन्न होता है। जो साधारण पहले छू नहीं पाता, वही साधारण, मौलिकता से सम्पन्न होकर, दूसरों को छूने लगता है और उनका अपना बन जाता है। साधारण अल्पजीवी होता है, वही विशिष्ट बनकर दीर्घजीवी हो जाता है। साधारण उत्प्रेरक नहीं होता, वही विशिष्ट बनकर उत्प्रेरक हो जाता है। साधारण असम्बद्धता और असम्पृक्तता में निजत्व खोये रहता है, वही विशिष्ट बनकर सम्बद्धता और सम्पृक्तता से निर्मित निजत्व से उजागर रहता है। साधारण को दिक् और काल छिपाये रखते हैं, विशिष्ट बने साधारण को दिक् और काल सिर पर चढ़ाये रहते हैं। साधारण गूँगा रहता है, वही विशिष्ट बनकर गुड़ का स्वाद बताने लगता है। साधारण मानसिकता-विहीन होता है, वही विशिष्ट बनकर मानसिकता का उद्घाटन करने लगता है। साधारण में मानव-मूल्य पनप नहीं पाते, वही विशिष्ट बनकर मानव-मूल्यों का संपोषण और संवर्धन करने लगता है।

कलात्मकता कोई अजनबी और आरोपित गुण-धर्म नहीं है कि उसे परित्याग कर दिया जाये। वही तो कृति को विकृति होने से बचाती है। वही तो सूक्ष्म संवेदनों को रूप और आकार देती है। वही तो भावनाओं और विकारों को सुन्दर सजीव स्थापत्य देती है। वही तो असम्बद्ध वस्तुनिष्ठता को मानवीय चेतना से गत्यात्मक बनाती है और जड़ता का संहार करती है। वही तो सृष्टि का रूपांतरण करती है और वही उसे मानव का वशवर्ती बनाती है। वही मानवीय बोध को निरन्तरता में जीवित रखती है। वही मानव-मूल्यों की महत्ता के फहराते केतुओं का रंग बदरंग नहीं होने देती। वही मानवीय

सम्बन्धों को दृढ़तर और पावनतम बनाती है। वही अरूप को रूप और कुरूप को सुघर बनाती है। वही मर्त्य जीवन को अमर्त्य बनाती है। वही भूतल को स्वर्ग बनाती है।

आदमी ने कलात्मकता अर्जित की है। संघर्ष करते-करते उसने उसे पाया है। युग-युग की यात्रा करते हुए उसने उसे उत्तरोत्तर विकसित किया है और आज तक अब तक वैसा ही करता जा रहा है।

कलात्मकता का विरोध आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता का विरोध होता है। इन दोनों का विरोध मानव-जाति की निरन्तर विकसित हो रही प्रगतिशीलता का विरोध है। हाँ, उसी कलात्मकता का विरोध किया जा सकता है जो रूढ़ि हो चुकी है और विकासोन्मुख नहीं है। वह भी गत्यात्मक और रूपांतरण-कामी होती है। उस पर भी ऐतिहासिकता का प्रभाव पड़ता है और वह भी प्रभावित होकर, ऐतिहासिकता को जीती हुई, नये-नये भावों और विचारों के अनुरूप अपनी सांहित्यिक स्थिति बदलती है। यह सांहित्यिक बदलाव हो, मगर मानव-मूल्यों को विरूपित करने वाला न हो, अन्यथा कलात्मकता पतनशील हो जाती है।

राजनीति के इस जीवन-व्यापी युग में कविता भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। जिन कवियों की चेतना में राजनीति ने सर्वोपरि स्थान पा लिया है और जो उससे अपने जीवन में सीधे जुड़े हुए हैं उन कवियों की कविताओं में राजनीति ही वस्तुनिष्ठता का रूप लेकर व्यक्त हुई है। वह राजनीतिक वस्तुनिष्ठता कवियों की आत्मनिष्ठता का कलात्मक रूप नहीं ले सकी। इस वजह से राजनीतिक कविताएँ सरल और सपाट हो गयी हैं। यह राजनीति का दोष नहीं, उनके लिखने वालों की समझ का फेर है। वह राजनीति और कविता के बीच का अन्तर नहीं समझते। कविता में आयी राजनीति वही राजनीति नहीं हो सकती जो बाहर होती है। कविता में आने के लिए, उसमें बिम्ब-विधान पाने के लिए और सफल और सुन्दर कृति का रूप पाने के लिये राजनीति को अपना बाहरी जामा छोड़ना पड़ता है और संवेदनशील होने के लिए कवि के आत्मनिष्ठ व्यक्तित्व में समाहित होना पड़ता है और फिर रूपायित होकर बाहर निकलना पड़ता है। बाहर आयी राजनीति तब वही राजनीति नहीं होती जो बाहर से भीतर गयी होती है। कृति-रूपा राजनीति ओवेगों और संवेगों की राजनीति होती है। फिर भी वह

राजनीति नहीं कविता कहलाती है। पाब्लो नेरूदा की कविताएँ राजनीति से सम्बद्ध और सम्पृक्त कविताएँ हैं। उनमें राजनीति के घटना-क्रम भी हैं और घटना-चक्र भी। उनकी कविताओं में स्थल-स्थल पर तथ्यात्मक विवरण भी हैं। परन्तु खूबी तो यही है कि इस पर भी कविताएँ कविताएँ हैं, राजनीतिक गोलाबारी या उसका धुआँ-धक्कड़ नहीं हैं। वे प्रतिबद्ध कविताएँ हैं लेकिन प्रतिबद्धता ने उनके काव्य-रूप को विरूपित नहीं किया। बजाय विरूपित करने के प्रतिबद्धता ने उन कविताओं को नये ऐतिहासिक और आत्मनिष्ठ आयाम दिये हैं और वे पूरी तरह से कलात्मक कृतियाँ हो गयी हैं। वह पूरे बल और वेग के साथ पतनशील राजनीति का पर्दाफाश करती हैं और अक्रामक स्वर में चोट-पर-चोट करती हैं। फिर भी काव्यात्मक ही काव्यात्मक बनी रहती हैं वे।

प्रतिबद्धता का सिद्धान्त एक वैज्ञानिक संवर्ग हैं। यह, संकीर्ण वस्तुनिष्ठता और अहंवादी आत्मनिष्ठता की प्रवृत्तियों का विरोध, वैचारिक स्तर पर, करता है और इन दोनों प्रवृत्तियों की गलत सामाजिक और कलात्मक परिणतियों का भंडाफोड़ करता है। संकीर्ण वस्तुनिष्ठता में उन सब सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक स्थितियों से बने सम्बन्धों का प्रतिबिम्बन रहता है जो अंधरूढ़िवादी, भाग्यवादी और शोषणवादी व्यवस्थाओं को निरन्तर चालू रखते हैं और आदमी को आदमी नहीं रहने देते। अहंवादी आत्मनिष्ठता, साहित्य के क्षेत्र में घोर अराजकता की ओर संक्रमण करने का प्रतिपादन करती है। इन दोनों अतियों से साहित्य को बचाने का वैज्ञानिक उपक्रम एक मात्र प्रतिबद्धता करती है। प्रतिबद्धता ही कृतिकार की चेतना को सही समझ देती है जिसे प्राप्त करती हुई वह ऐतिहासिक युगबोध से बने रह गये मानवीय सम्बन्धों की पक्षधरता करती है। ताकि आदमी का शोषण आदमी न कर सके और शांति और समृद्धि में सभी रह सकें। होता यह है कि प्रतिबद्धता की वजह से कृतिकार गलत रुझान वालों को अपनी सहानुभूति और सहृदयता नहीं देता बल्कि, उल्टे, उनके क्रिया-कलाप और उनकी विस्तृत भौतिक माया-जाल की विसंगतियों को निर्ममता के साथ ध्वंस करता है और प्रगतिशील शक्तियों का पथ प्रशस्त करता है।

स्वयं पाब्लोनेरूदा अपने अन्तिम दिनों में अधिक सरल और सुबोध और सीधी राजनीतिक कविताएँ लिखने लगे थे। उनकी पहिले की काव्यात्मकता और कलात्मकता बदलकर सामान्य जन की राजनीतिक चेतना से सम्बद्ध हो

गयी थी। तभी तो वे अपनी इन अभिव्यक्तियों में अधिक आक्रोशी और आक्रामक हो गये थे। निस्संदेह वह अब राजनीति के वस्तुनिष्ठ प्रभाव से सोचने विचारने लगे थे। इसीलिए उनकी कविताओं में बिम्ब-विधान और संश्लिष्टता की कमी हो गयी थी। नेरूदा की यह नयी आत्मनिष्ठता परिस्थितिवश, पहिले के अपने गुणधर्म त्यागकर, राजनीति के गुण-धर्म को अपना चुकी थी। अन्यथा इस परिवर्तन का कोई दूसरा कारण समझ में नहीं आता।

नाजिम हिकमत भी अपने देश की राजनीति से सम्बद्ध सफल कवि रहे हैं। उनकी आत्मनिष्ठता और उनकी वस्तुनिष्ठता नेरूदा की दोनों निष्ठताओं से भिन्न प्रकार की थी। इसीलिए नाजिम हिकमत की कविताओं में वह संश्लिष्टता और समग्रता नहीं मिलती जो नेरूदा की कविताओं में बराबर मिलती रही है। नाजिम हिकमत सरल, सहज स्वभाव के प्रतिबद्ध कवि थे। उनकी सहजता और सरलता अन्त तक उनकी कविताओं में भी बनी रही। वह वस्तुनिष्ठता के घटनाक्रम और घटनाचक्र को पूरी जटिल बुनावट के साथ नहीं ग्रहण करते थे अपितु वह, अपनी सीधी राजनीतिक अवगतता से प्रभावित होकर, उसको उसी अवगतता से रूपायित करते थे। नेरूदा और नाजिम हिकमत की कविताओं की तुलना करना इसीलिए समीचीन न होगा। दोनों ही उच्चकोटि के, दो तरह की आत्मनिष्ठ वस्तुनिष्ठता के कवि थे।

मायाकोवस्की प्रतिबद्ध कवि थे और अपने समय की राजनीति से पूर्णतया सम्पृक्त कवि थे। उनकी कविताओं में उनकी आत्मनिष्ठता वस्तुनिष्ठता के धरातल पर वैसे ही आवेग और संवेग से झराझर झरती थी जैसे कोई पर्वतीय प्रपात निर्विरोध झरता हो। नाजिम हिकमत से अधिक संश्लिष्ट चेतना के कवि मायाकोवस्की थे। लेकिन नेरूदा की बहुआयामी वस्तुनिष्ठता की अवगतता उनकी कविताओं में नहीं मिलती। तीनों ही कवि अपनी-अपनी तरह की आत्मनिष्ठता के कवि थे और तीनों ने अपनी-अपनी तरह से अपनी-अपनी आत्मनिष्ठता व्यक्त की है। तीनों ही समाजवादी चेतना के शीर्षस्थ कवि थे और तीनों की कविताएँ देश-विदेश के लोग बड़ी रुचि से पढ़ते हैं और उनसे सम्पृक्त होते हैं।

इसीलिए यह कहना अनुचित होगा कि कौन कवि कौन सा काव्य-पथ अपनाये और किस प्रकार की कविताएँ लिखे। प्रत्येक कवि को अपना पथ

स्वयं बनाना पड़ता है और अपनी क्षमता के अनुसार, उस पर चलकर, कविताएँ प्रस्तुत करना पड़ता है। यदि कवि की दृष्टि सही और सटीक समाजवादी चेतना और जनवादी वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता से विरचित हुई है तो निश्चय ही उस दृष्टि से रची गयी कविताएँ सम्प्रेषणीय होंगी और दूसरों की मानसिकता को वैसा ही बना सकने में सक्षम होंगी।

इसलिए आज के इस दौर में लिखी जा रही अनेकानेक कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन इसी दृष्टि के आधार पर करना श्रेयस्कर होगा। इतनी छूट तो देनी ही होगी कि कविगण एक सी साँचे में ढली हुई एक ही प्रकार की मानसिकता की कविता लिखने के लिए बाध्य न हों। ऐसा करने से ही कवियों की मानसिकता पूरा विकास पा सकेगी और काव्य के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न शैलियों के रूप प्रस्तुत हो सकेंगे। प्रतिबद्धता कभी भी किसी कवि की आत्मनिष्ठ मौलिकता के आड़े नहीं आती और न ही उसके विकास को अवरुद्ध करती है।

इधर अपने यहाँ हिन्दी की लघु-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली तमाम छोटी-बड़ी और लम्बी कविताएँ देखने को मिली हैं। इनके कथ्य यथार्थ से लिए गये होते हैं और इनका शिल्प भी वैसे ही वस्तुनिष्ठता से विरचित होता है। इनमें व्यक्त आत्मनिष्ठता में वह कलात्मक गठन नहीं होती जो कृति को सहज साधारण से अधिक प्रियतर बनाये। इसका मूल कारण सम्भवतः यही है कि कवि कविता का भी जनतंत्रीकरण कर रहे हैं और इनकी अवधारणा भी यही है कि कविता को भी अपने वे सब, पहिले से प्राप्त और उपलब्ध किये हुए, कलात्मक गुणों को छोड़ना पड़ेगा और भाषा और शिल्प के धरातल पर भी केवल तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत करना पड़ेगा और अगर ऐसा नहीं होता तो कविता जन साधारण के पल्ले नहीं पड़ सकती।

ऐसी अवधारणा निश्चय ही सही नहीं है। कविता को जनतांत्रिक बनाने के लिए उसे न तो अखबारी वक्तव्य बनाया जा सकता है, न ही उसकी भाषा को मात्र सड़क और बाजार में प्रयुक्त होने वाली बोली से निरूपित किया जा सकता है। कविता ऐसे जनतंत्रीकरण से कविता नहीं रह जाती। कविता की अपनी कलात्मक विशिष्टता और भाषायी संवेदनशीलता होती है जिसे कवि को अर्जित करना पड़ता है। जनतंत्र कविता में आये लेकिन वह भी आत्मनिष्ठता से अपना रूप बदलकर, सविशेष होकर, आये। सम्प्रेषणीयता के

नाम पर और जनतंत्र की अभिव्यक्ति के लिये कविता को वही कलात्मक कथ्यात्मकता अपनानी पड़ेगी जो जनतंत्र के कथ्य को गुणात्मक रूप से हृदयग्राही बना सके। कविता का स्तर, बजाय नीचे गिराने के, ऊपर उठाया जाना चाहिए और इसके लिए कवि को अपने सामने उन महान कवियों की समाजवादी रचनाओं को रखकर उनसे अच्छे लिखने के वे आयाम लेने चाहिए जो उनकी मौलिक क्षमता के अनुरूप और अनुकूल हों। इसीलिए आज की अनेक लंबी जनतांत्रिक कविताएँ पाठकों को नहीं पकड़ पातीं और उनकी मानसिकता को प्रखर और प्रवेगपूर्ण नहीं बना पातीं। लगभग सभी कविताओं का धरातल एक जैसा लगता है। यही वजह है कि इन कविताओं को वही जनता अपना नहीं पाती जिस जनता के लिये वह लिखी जाती हैं। न ऐसी जनतांत्रिकता से कविता का कोई भला होता है, न उस जनता का जिसके लिए इसकी दुहाई दी जाती है।

वास्तव में जनतंत्र और कविता के बीच में कोई विरोध नहीं होता। जनतंत्र भी आदमी को ऐसी परिस्थितियों में ले जाकर जिलाता है और जागरूक बनाता है जो उसे श्रेष्ठ नागरिक बनाती हैं। कविता भी यही काम करती है। इन दोनों के बीच का तथाकथित विरोध, जो सामने लाया जाता है वह विरोध उन लोगों के द्वारा उछाला जाता है जो जनतंत्र की पीठ पर, महावत की तरह सवार होकर, उस पर अपना निजी अंकुश लगाए रखना चाहते हैं ताकि जनतंत्र उन्हीं की व्यवस्था को और उन्हीं की यथास्थिति की राजनीति को निरन्तर पूर्ववत् कायम किये रहे। यदि जनतंत्र से यह अंकुश हटा लिया जाये और वह अपना विकास महान मानववादी आदर्शों से करने की छूट पा जाये तो, निश्चय ही, उस जनतंत्र की राजनीति वह राजनीति न होगी जो आज के तथाकथित जनतंत्र की राजनीति है। आज का जनतंत्र, जिसे हम सब रो-रोकर जी रहे हैं, हम लोगों को ही नहीं, बल्कि हमारी समग्र मानवीय क्षमताओं को, मौलिकता को, वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता को, सामर्थ्यहीन बनाकर दुर्बल और निर्बल कर देता है। होता यह है, कि आज की गर्मागर्म राजनीति कवियों को भी अपने लक्ष्य से भटका देती है और वे लोग अपने कवि-कर्म को कम महत्व देते हुए राजनीतिक वक्तव्य देने लगते हैं। इसीलिये इनकी कविताओं की भाषा कलात्मक नहीं हो पाती। वे केचुओं की तरह रेंगती रह जाती हैं। इसीलिए आज की कविता को इस दुखद स्थिति

से निकालना चाहिए। अन्यथा वह बड़ी दीन-हीन और श्री-विहीन हो जायेगी।

सवाल यह है कि यह किया जाये तो कैसे किया जाये। क्या उसे सब तरह से नंगा कर दिया जाय? क्या उसे अजनबी और अनजान बनाकर विशिष्ट इकाई बना दिया जाय? क्या उसे सम्प्रेषणीयता के सभी तत्त्वों से वंचित कर दिया जाय? क्या उसे भावनाओं और संवेगों से कत्तई दूर कर दिया जाय? क्या उसे बौद्धिकता और आधुनिकता के चक्कर में डालकर सब तरह से अकविता बना दिया जाय या कि गद्य का ही रूप दे दिया जाय?

यही वे प्रश्न हैं जो आज कविता के सम्बन्ध में ज्वलन्त रूप से उभरकर सामने आते हैं। कविता को नंगा करने की कोशिश चल रही है। वह जहाँ-तहाँ नंगी भी की जा रही है। उसके नंगे करने को प्रमुखता भी दी जा रही है। ऐसी जितनी भी कविताएँ लिखी गई हैं वे अपने-अपने कवियों की अक्षमताओं को ही प्रतिबिम्बित करती हैं। कविता को नंगे करने का मतलब होता है उससे उसकी अब तक की समस्त उपलब्धियों को छीन लेना। दूसरे शब्दों में इसे कहा जाय तो कहना पड़ेगा कि कविगण अपनी कविताओं में उनके वे गुणधर्म लायें ही नहीं जो गुणधर्म लाये जाते रहे हैं। ऐसी नंगी कविता की वकालत वही कवि करते हैं जो कविता के विकास को मानवीय विकास से अलग करते हैं और दोनों को एक दूसरे के लिए आवश्यक नहीं समझते। यह धारणा नितान्त भ्रामक है। न ऐसी धारणा से कविता का सांस्कृतिक विकास होता है, न आदमी की सांस्कृतिक गतिमयता ही बनती है। कविता, अकेली होकर, अकेले में ही, मरती जाती है और अपनी अकेली स्वायत्तता में लीन होकर कवि के निजत्व के चारों ओर चक्कर काटने लगती है, और नहीं तो वह या तो रहस्योन्मुख होकर अनन्त की ओर दौड़ जाती है या बौद्धिकता की कैची से अपनी सुन्दर सुकुमार भावना के पक्षों को कतरवा डालती है और केवल मानसिक ऊहापोह करने लगती है। इसीलिए ऐसी कविता भाषा को भी अतिक्रमण करने का प्रयास करती है। तब भाषा से प्राप्त होने वाली उसकी सम्प्रेषणीयता भी समाप्त हो जाती है।

इसीलिये कविता को उसके तमाम, उपलब्ध किये हुये, गुण-धर्मों, से वंचित न करना चाहिये, अपितु उसके उन गुणधर्मों को अपनाए रहना चाहिये जो उसे चमकाते और निखारते रहते हैं और जो उसे आदमी की सही सार्थक मानसिकता देते रहते हैं।

मैं इन विचारों का निर्वाह अपने काव्यकर्म में कहाँ तक कर सका हूँ, इसे सुधी पाठक ही जानने और समझने का प्रयत्न करेंगे। मैं अपनी इन संकलित कविताओं के बारे में कुछ और नहीं कहना चाहता।

श्री कृष्ण मुरारी पहाड़िया ने अपना समय देकर मेरे बोलने पर, यह भूमिका लिखी है और वह ही इन सब को सुनते और पढ़ते रहे हैं। उनके अतिरिक्त श्री रामशंकर मिश्र ने भी अपना समय देकर इन्हें पढ़ा और मुझे आश्वस्त किया। मैं इन दोनों का आभारी हूँ। मेरे प्रकाशक ने इस संकलन को छापने में रुचि ली और अनेकानेक कठिनाइयों के होते हुए भी इसके प्रकाशन की पूरी व्यवस्था की। इसके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ। अपने नगर के सभी युवा कवियों का भी कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने, तरह-तरह से, समय-समय पर, मुझे सहयोग दिया।

इस संकलन को मैंने अपने पुत्र अशोक और अपनी पुत्र-बधू ज्योति को समर्पित किया है इसलिये कि मैं उन्हें बहुत याद करता हूँ और वे मुझे बहुत याद करते हैं। इन कविताओं में वे भी कहीं-न-कहीं अपनी झलक मार जाते हैं।

बाँदा (३० प्र०)
23-9-1978 ई०

— केदारनाथ अग्रवाल

अनुक्रम

कविता का शीर्षक	स्थान एवं रचना-तिथि	पृष्ठांक
अपनी बात	बाँदा, मई, 1973	25
जी के काम	बाँदा, जून, 1971	26
धूप की तलवार	बाँदा, मई, 1975	27
विरोधी व्यक्तित्व	बाँदा, दिसम्बर, 1964	28
अच्छा होता	बाँदा, नवम्बर, 1975	29
सागर	बाँदा, नवम्बर, 1975	30
कनबहरे	बाँदा, मार्च, 1971	31
पहाड़ और नदी	बाँदा, नवम्बर, 1975	32
दिन, नदी और आदमी	बाँदा, नवम्बर, 1975	33
हम और सड़कें	बाँदा, नवम्बर, 1975	34
प्रकृति का लोकतंत्र	बाँदा, नवम्बर, 1975	35
और का और मेरा दिन	बाँदा, जुलाई, 1976	36
हरियाली	बाँदा, जनवरी, 1963	37
शहरों की सूरत	बाँदा, मार्च, 1969	38
गयी बिजली	बाँदा, अक्टूबर, 1975	39
अखबार-आदमी-लोकतंत्र	बाँदा, सितम्बर, 1975	40
अब	बाँदा,	41
डर	बाँदा, अगस्त, 1974	42
जादुई अंग	बाँदा, सितम्बर, 1974	43
अपने लिए जीना	बाँदा, सितम्बर, 1974	44
ताकत के सुरंग और घुड़सवार	बाँदा, सितम्बर, 1974	45
गुलाब-गुलाब	बाँदा, सितम्बर, 1974	46
हम और लोग	बाँदा, नवम्बर, 1974	47
जन्मांध पहाड़	बाँदा, दिसम्बर, 1974	48
बस छूटने पर	बाँदा, अप्रैल, 1975	49

आग का अंडा	बाँदा, सितम्बर, 1975	50
बौद्धिक नौजवान	बाँदा, सितम्बर, 1976	51
मेरी नींद और मैं	बाँदा, फरवरी, 1965	52
समय	बाँदा, दिसम्बर, 1965	53
संविधान का आदमी	बाँदा, दिसम्बर, 1965	54
दिन से रात तक	बाँदा, जुलाई, 1975	55
सुबह और नियति	बाँदा, नवम्बर, 1969	56
प्रकृति की राजनीति	बाँदा, अगस्त, 1973	57
महोबे की बोली	बाँदा, जुलाई, 1973	58
गाँव का बरगद	बाँदा, जुलाई, 1973	59
बादल और पौधे	बाँदा, अगस्त, 1973	60
सुख-सर्जन का सबेरा	बाँदा, मार्च, 1973	62
इन्तजार में	बाँदा, नवम्बर, 1973	63
दूज का चाँद	बाँदा, अप्रैल, 1971	64
समय का डमरू	रामेश्वरम्, जून, 1972	65
रामेश्वरम् के तट पर	बाँदा, जुलाई, 1972	66
मेघ- माया की रात	बाँदा, अप्रैल, 1971	67
दूधिया दर्पण में	बाँदा, जनवरी, 1975	68
हम	बाँदा, अक्टूबर, 1971	69
सूरज मिलने की खुशी में	बाँदा, अगस्त, 1970	70
तड़पन	बाँदा, अप्रैल, 1973	71
अफसर	बाँदा, जून, 1970	72
सच	बाँदा, मई, 1970	73
जान-मार आदमी	बाँदा, जून, 1971	74
मौत की सजा	बाँदा, जुलाई, 1971	75
'पेंडुलम' और मैं	बाँदा, नवम्बर, 1977	76
नृत्यांगना	मद्रास, जनवरी, 1975	77
तुम	बाँदा, फरवरी, 1975	78
चौराहा	बाँदा, फरवरी, 1977	79
हल्ले की राजनीति	बाँदा, जुलाई, 1977	80
मँहगाई	बाँदा, नवम्बर, 1973	81
उजाले में	बाँदा, नवम्बर, 1972	82
दिक् और काल में	बाँदा, अप्रैल, 1972	83

अजदहे के पेट में	बाँदा, जून-जुलाई, 1972	84
पवन और पानी में	बाँदा, जून, 1973	85
प्रलय का पौरुष	बाँदा, नवम्बर, 1973	86
पेड़ का मौन	बाँदा, मार्च, 1973	87
आज का चाँद	बाँदा, जुलाई, 1977	88
देश की राजनीति	मद्रास, जून, 1973	89
भारतीय सरकार	मद्रास, जून, 1976	90
सितार-संगीत की रात	मद्रास, जून, 1977	91
अपना जन्म-दिन	मद्रास, 1 अप्रैल, 1976	92
'लवर्स बीच' पर	मद्रास, अप्रैल, 1976	94
बसंत में	मद्रास, जून, 1977	95
मैं और प्रशांत	मद्रास, अप्रैल, 1976	96
टिटिहरी	मद्रास, अप्रैल, 1976	97
यथावत्	मद्रास, अप्रैल, 1976	98
नागलिंगम्	मद्रास, अप्रैल, 1976	99
कल का दिन	मद्रास, अप्रैल, 1976	100
प्यार का प्रवाल-द्वीप	मद्रास, जून, 1977	101
अहं-खोजी	मद्रास, मई, 1976	102
वे और हम	मद्रास, जून, 1976	103
दिन-धरती-जनता	मद्रास, जून, 1976	104
सिंधु-किनारे	मद्रास, जून, 1976	105
फूल से दिन	मद्रास, जून, 1976	06
गुलाबों का दरिया	मद्रास, मई, 1976	107
डूबता सूरज	मद्रास, मार्च, 1976	108
बोलता चाँद	बाँदा, मार्च, 1976	109
समवेदना में खड़ा आदमी	बाँदा, जनवरी, 1977	110
सरकार	बाँदा, सितम्बर, 1976	111
जनाना देश	बाँदा, अगस्त, 1976	112
सरकार, अफसर और जनता	बाँदा, अगस्त, 1976	113
भागीदार तुम	बाँदा, अगस्त, 1976	114
उदास पूर्णमासी	बाँदा, जुलाई, 1976	115
बद्दल-पंखी मौसम	बाँदा, जून, 1976	116
विरक्ति के मुँह में	बाँदा, जून, 1976	117

शिकायत	बाँदा, अप्रैल, 1976	118
देश की राजनीति	बाँदा, जून, 1977	120
पहला पानी	बाँदा, जून, 1976	121
संत कवीश्वर तिरुवल्लुवार के प्रति	बाँदा, अप्रैल, 1976	123
बहुत अच्छा लगता है मुझे	बाँदा, अगस्त, 1974	127
बनारस की प्रशस्ति में	बाँदा, सितम्बर, 1975	129
पानी	मद्रास, अगस्त, 1973	133
आदमी के हाथ का बजता सितार	मद्रास, अगस्त, 1973	134
मीनाकुमारी की मृत्यु पर	बाँदा, अप्रैल, 1972	135
दर्द और हमदर्द	बाँदा, सितम्बर, 1970	136
अपराधी नागरिक	बाँदा, अगस्त, 1973	137
मदरास	मद्रास, जून, 1971	139
कैलेंडर का नारी-चित्र देखकर	बाँदा, जनवरी, 1977	140
सोन-अगिन शाम	बाँदा, सितम्बर, 1976	141
अपने मन की बात	बाँदा, मई, 1964	143
यहाँ भी	मद्रास, मई, 1976	145
आज का लेखन	मद्रास, अप्रैल, 1976	147
सिनेमाई संसार	मद्रास, जून, 1976	149
लोगों का जीवन	बाँदा, सितम्बर, 1976	151
हिंदी	बाँदा, सितम्बर, 1976	152
कविता की जरूरत	बाँदा, दिसम्बर, 1975	156
सुबह की नदी	बाँदा, मार्च, 1977	158
तमिलनाडु के पेड़	मद्रास, जून, 1971	159
अक्षम हूँ मैं	बाँदा, सितम्बर, 1976	160
असमर्थता	बाँदा, सितम्बर, 1976	161
मई का मदरास	मद्रास, मई, 1976	162
कुछ भी नहीं मौत	बाँदा, अगस्त, 1973	163
मेरा यार वसंत	बाँदा, 24 जनवरी, 1977	164
मेरा आदर्श	बाँदा, 10 जुलाई, 1975	165
दीवार गिरने के बाद	बाँदा, अगस्त, 1975	166
व्यक्ति-व्यक्ति का जीना	बाँदा, अगस्त, 1975	167
सिफर सूरज	बाँदा, दिसम्बर, 1976	168



पंख और पतवार

अपनी बात

देखे दाँव,
पैंतरे झेले;
खायी मार
मोर के मुँह की,
आँख न फूटी;
मत्त गयंदी
पदाघात से
कमर न टूटी;
नरम जीभ से
हमने
दिग्गज-पर्वत
ठेले।

बाँदा, मई, 1975

जी के काम

जी के काम
किये जीने में,
सम्प्रति
साँग लिये सीने में;
रुचि की
रचना
रची मरम से,
बाँध
नहीं बाँधे
कुकरम के।

बाँदा, जून, 1971

धूप की तलवार

खिले हैं
खुले दिल के
कमल के फूल,
आकाश का
विश्वाधार
पंखुरियों पर उठाये,
हवा का
हिलता है दुकूल,
न कोई टंटा है—
न कोई शूल,
नदी में
चमकती है
धूप की धार-धरी
तलवार ।

बाँदा, मई, 1975

विरोधी व्यक्तित्व

खुल गया हूँ मैं,
धूप में धान के खेत की तरह,
हर्ष से हरा-भरा
भीतर-बाहर लहरा।
मुझे देखता है
मेरा ही विरोधी व्यक्तित्व
लालची निगाहों से
काटकर ले जाने के लिए,
हाट में बेचकर
पैसा कमाने के लिए।

बाँदा, दिसम्बर, 1964

अच्छा होता

अच्छा होता
अगर आदमी
आदमी के लिए
परार्थी—
पक्का—
और नियति का सच्चा होता
न स्वार्थ का चहबच्चा—
न दगैल-दागी—
न चरित्र का कच्चा होता।

अच्छा होता
अगर आदमी
आदमी के लिए
दिलदार—
दिलेर—
और हृदय की थाती होता,
न ईमान का घाती—
ठगैत ठाकुर
न मौत का बराती होता।

बाँदा, नवम्बर, 1965

सागर

जूझता है

अपने ही अस्तित्व की अथाह जल-राशि से
दोलायित द्वंद्व के अनंत मोरचे पर
तरंगायित घमासान युद्ध में
निरंतर लगा,

दिन भर दहाड़ता,

रात भर दहाड़ता,

आतुर, अधीर,

मथता अपने ही व्यक्तित्व की मानसिक गहराई,
काँच-काँच हुआ कच-कच टूटता,

बिखरता,

चूर हुआ,

बार-बार उठता, बार-बार गिरता,

बार-बार लड़ता,

मारे नहीं मरता-मुक्ति नहीं चाहता,

नील-श्याम सागर यह

जीवन का सागर।

बाँदा, नवम्बर, 1975

कनबहरे

कोई नहीं सुनता
झरी पत्तियों की झिरझिरी
न पत्तियों के पिता पेड़
न पेड़ों के मूलाधार पहाड़
न आग का दौड़ता प्रकाश
न समय का उड़ता शाश्वत विहंग
न सिंधु का अतल जल-ज्वार
सब हैं—

सब एक दूसरे से अधिक
कनबहरे,
अपने आप में बंद, ठहरे।

बाँदा, मार्च, 1971

पहाड़ और नदी¹

अधिष्ठित है

नगर का परम पुरुष पहाड़
नवागत चाँदनी के कौमार्य में;
आसक्ति को अनासक्ति से साधे,
भोग को योग से बाँधे,
समय में ही
समयातीत हुआ,

पास ही

प्रवाहित है

अतीत से निकल आयी,
वर्तमान को उच्छल जीती,
भविष्य की भूमि की ओर
संक्रमण करती नदी,
गतिशील निरन्तरता की जैसे वही हो
एकमात्र सांस्कृतिक,
चेतन अभिव्यक्ति।

बाँदा, नवम्बर, 1975

1. बाँदा का टुनटुनिया पहाड़ और उसकी केन नदी।

दिन, नदी, और आदमी

दिन ने नदी को—
नदी ने दिन को—
प्यार किया।

दोनों ने
एक दूसरे को जिया,
एक दूसरे को
जी भरकर पिया।

आदमी ने
दिन को काटा,
नदी के पानी को बाँटा।

बाँदा, नवम्बर, 1975

हम और सड़कें

सूर्यास्त में समा गयीं
सूर्योदय की सड़कें,
जिन पर चले हम
तमाम दिन सिर और सीना ताने,
महाकाश को भी वशवर्ती बनाने,
भूमि का दायित्व
उत्क्रांति से निभाने,
और हम
अब रात में समा गये,
स्वप्न की देख-रेख में
सुबह की खोयी सड़कों का
जी-जान से पता लगाने।

बाँदा, नवम्बर, 1975

प्रकृति का लोकतंत्र

बाचाल हूँ
चिंतन चमक से चमकतीं,
हवा में हिलते पौधों की
प्रमुद पत्तियाँ,
महिला-वर्ष के
महोत्सव में
आधिपत्य की तालियाँ बजातीं।

आँख खोले हँसते हूँ
हर्ष के हरे संसार में,
रूप और राग के रोमानी फूल.
प्रमुद पत्तियों के साथ,
जमीन और आसमान को सुगंधित किये।

प्रकृति का लोकतंत्र
धूप के दर्शन में खिला है,
लोकतंत्र में जीने का मजा
बस आज मिला है।

बाँदा, नवम्बर, 1975

और का और मेरा दिन

दिन है
 किसी और का
 सोने का हिरन;
मेरा है
 भैंस की खाल का
मरा दिन।
यही कहता है
 वृद्ध रामदहिन,
 यही कहती है
उसकी घरैतिन,
जब से
 चल बसा
 उनका लाडला।

बाँदा, जुलाई, 1976

हरियाली

धूप-छाँह-खायी हरियाली,
विजय-पताका लिये हाथ में,
फूलों और फलों की शोभा लिये साथ में,
प्रकृति-प्रेम से मतवाली है।

यह हरियाली

मुझको प्रिय है,
यही मुझे करती है प्रमुदित,
यही मुझे रखती है जीवित।

बाँदा, जनवरी, 1963

शहरों की सूरत

आदि से अंत तक
कायम हैं
यहाँ,
वहाँ,
आदमीनुमा धब्बे—
औरतनुमा गड्ढे ।
यही है सूरत
हरेक शहर की,
जो न बदली—
न बदली,
आज तक,
अब तक,
बदली निगाह के साथ,
बदले विचार के साथ ।
बाँदा, मार्च, 1969

गयी बिजली¹

गयी बिजली,
साथ में ले गयी अपनी अंग-आभा,
और हमको दे गयी अनभल अँधेरा,
कर गयी अंधा, अकेला।
खो चुका सब-कुछ हमारा,
रूप से-श्रम से जिसे हमने सँवारा,
प्यार से-मनुहार से
हमने जिसे क्षण-क्षण निहारा।

गयी बिजली,
हम नहीं हम रह गये,
बुत गये हम,
बुते दीपक-से अतल में रह गये हम।

बाँदा, अक्टूबर, 1975

1. बाँदा में बिजली बार-बार मर जाती है, हमें मार-मार जाती है।

अखबार-आदमी-लोकतंत्र

मुँह-बंद आदमी,
आँख खोले खुला अखबार पढ़ता है,
पंक्ति-बद्ध शब्दों के शासन से
नाक और नकशा
अनुशासन का गढ़ता है,
लेकिन
जब आसपास
इधर-उधर
राह से गुजरता है,
देश का एक और ही चित्र
उसके सामने उभरता है;
मात-खाते मोहरे-सा
एक एक व्यक्ति
पिता-पिता दिखता है;
लोकतंत्र जगह-जगह
घुना-घुना दिखता है।

बाँदा, सितम्बर, 1975

अब

चलती राजनीति

अब सहज नहीं चलती,
घर की आग में अब दाल नहीं गलती।

बड़ी दुनिया से बड़ा—

बहुत बड़ा खतरा है,
जमीन और जिंदगी में भरा पड़ा खतरा है।

पढ़ाई पर

पूरे पहाड़ के पत्थर पड़े हैं,
पत्थरों के बने हमारे विद्यालय खड़े हैं।

सुबह का सूरज

रात का अँधेरा काटता है,
ओस के आँसू आग की जीभ से चाटता है।

बाँदा

डर

शेर से
डरते-डरते
आदमी
सियार से डरने लगा,
बीमार होकर
भीतर-ही-भीतर
मरने लगा,
आदमी होने के संज्ञान से
इनकार करने लगा ।

बाँदा, अगस्त, 1974

जादुई अंग

फटे हैं उसके कपड़े,
वायु से फटे हैं जैसे बादल।
ललकते
झाँकते हैं
उसके
जवान जादुई अंग,
विहँसते
झाँकते हैं
जैसे
झाड़ी के खिले फूल।

बाँदा, सितम्बर, 1974

अपने लिए जीना

अपने लिए
जीने का अर्थ है :
न जीना;
जमीन, आसमान,
आग, हवा, पानी,
और प्रकाश से
अनुप्राणित
न होना;
स्वयं में
सिकुड़ना,
स्वयं में समाहित होना;
न पशु होना,
न आदमी होना;
दिक्काल में
अपरिभाषित
होना।

बाँदा, सितम्बर, 1974

ताकत के तुरंग और घुड़सवार

ताकत के तुरंग
अस्तबल में
बँधे घास खाते हैं ।
उनके घुड़सवार
सराय में टिके सुसताते हैं,
जी और जहान की
खैरियत मनाते हैं,
खाल की खँजड़ी,
ताल-बेताल
बजाते हैं ।

बाँदा, सितम्बर, 1974

गुलाब-गुलाब

गुलाब
देखते-देखते
गुलाब हो गया मैं,
सूर्यास्त के
चेहरे पर खिला,
पटाक्षेप के पूर्व
कालातीत हुआ
प्रमुदित।

बाँदा, सितम्बर, 1974

हम और लोग

हम—

बड़े नहीं—
फिर भी बड़े हैं
इसलिए कि
लोग जहाँ गिर पड़े हैं
हम वहाँ तने खड़े हैं,
द्वन्द्व की
लड़ाई भी
साहस से लड़े हैं;
न दुख से डरे,
न सुख से मरे हैं;
काल की मार में
जहाँ दूसरे झरे हैं,
हम वहाँ अब भी
हरे-के-हरे हैं।

बाँदा, सितम्बर, 1974

जन्मांध पहाड़¹

सिर पर सवार अब आज सूरज
आग-ही-आग
उगलता है,
सफेद,
निर्धूम,
पारदर्शी ।
इस आग को ओढ़े,
जमीन में खड़े हैं जन्मांध पहाड़,
अनंत का
अनहद नाद सुनते ।

बाँदा, सितम्बर, 1974

¹. चित्रकूट के पहाड़

बस छूटने पर

छूट गयी 'बस'
रह गया मैं
पाँव पर खड़ा,
चाकू-सा
खुला दिन
मेरी देह में गड़ा।

बाँदा, अप्रैल, 1975

आग का अंडा

लोहित

टँगा है सूर्य,
पश्चिमी आकाश के
समाचार में अभी,
प्रत्यर्पित नदी के वक्ष पर
धरा है जैसे
रक्तरंजित
आग का अनबुझ अंडा।

बाँदा, सितम्बर, 1975

बौद्धिक नौजवान

नये, नीले

पतलून के खम्भों पर,
कमर के ऊपर-कंधों तक,
जादुई छवियों की

बहुरंगी 'बुशशर्ट' की

ढोलक टाँगे,

गरदन के ऊपर

विसंगतियों से विकृत

आदमी का चेहरा चिपकाये,

समय की गड़बड़ सड़क पर

चलता चला जा रहा है ठोकर खाते,

प्रवचनाओं से बचने की फिकर में-

सुरक्षित आवास खोजता,

कहीं-से-कहीं पहुँचकर,

किसी-न-किसी परकीया के अंक में

समर्पित-समाप्त हो जाने के लिए;

समाजवाद से विमुख,

अपने आत्मवाद के अकेलेपन में

कुरबान हो जाने के लिए।

बाँदा, सितम्बर, 1976

मेरी नींद और मैं

ऐसा कुछ हुआ
कि नींद तो मेरी
तुम्हारे घर में डेरा डाले रही,
और मैं,
अकेला,
जलते पलाश-वन में
इधर-उधर घूमता रहा,
तुमसे दूर—
तुम्हारा एहसास लिये—
साँस-साँस में तुम्हें जिये
झूमता रहा।

बाँदा, फरवरी, 1965

समय

समय

चलता है

घड़ी में रात-दिन

न चल रहे बैल की लाश लिये

अब भी,

आज भी।

बाँदा, सितम्बर, 1965

संविधान का आदमी

वह
संविधान में
अब भी है,
जो
संविधान से बाहर
आदमी नहीं है।

बाँदा, सितम्बर, 1965

दिन से रात तक

दिन

कपास का

अदग¹ अनाविल निकला,

किरन-किरन ने रुई धूप की

धुनकी-काती ।

कर्मठ, मस्त

जवान उजाला,

जीवन का रण

लड़ा, शान से जीता ।

लम्पट लंका जली शाम की,

कंचन पिघला,

रुका रोर शहजोर-

ढमाढम बजता दिन का डंका ।

रोयी रात

केश को खोले,

आँसू झरे,

ओस के तारे टूटे-टपके,

दुनिया डूबी अंधकार में,

मानव पैठा मनोभवन में,

फूलों की फुलवारी महकी अन्तर्मन की ।

बाँदा, जुलाई, 1975

1. बिना दाग के

सुबह और नियति

सुबह

सतह पर

रंगविरंगी फैली,

नियति आदमी की

पर भीतर मैली ।

बाँदा, नवम्बर, 1969

प्रकृति की राजनीति

घेराव किया है,
अश्वकर्णी पत्तियों ने
ननकये फूलों का,
जवान हो गये
करोटन की
अर्थनीति
दुधमुँहे बच्चों को
हवा खिलती है,
धूप है कि हँसे जाती है,
चिड़ों की संसद चोंचें लड़ाती है,
मुझे
मेरी जिंदगी
प्रकृति की राजनीति से
गुदगुदाती है।

बाँदा, अगस्त, 1973

महोबे की बोली

दूध-दूध की यह बोली है,
दूध-दूध के
स्वर-व्यंजन हैं,
दूध-दूध की इस बोली में
नहा गया मैं,
डूब गया मैं,
दूध-दूध हो गया दूध में,

फूल-फूल की यह बोली है
पंखुरियों की,
रंग-विरंगे रूप-रंग की
अमराई है,
इस बोली की अमराई में
समा गया मैं,
बिला गया मैं,
फूल-फूल हो गया फूल में।

बाँदा, अगस्त, 1973

गाँव का बरगद

गाँव का बरगद
पुष्टांग

छतनार खड़ा है।

जीवन का मूलाधार
जमीन में गड़ा है,
जटाजूट में

चिरैयों का
जमघट बड़ा है,
छाया में

आदमी का दल
विदलित पड़ा है।

बाँदा, जुलाई, 1969

बादल और पौधे

पौधे

बतियाते हैं पत्तों से,
बादल से कहते हैं :
आओ जी,
आओ जी,
आओ ।

बादल

धमकाते हैं बिजली से,
पौधों से कहते हैं ।
ठहरो जी,
ठहरो जी,
ठहरो ।

पौधे

घबराते हैं गरमी से,
बादल से कहते हैं :
बरसो जी,
बरसो जी,
बरसो ।

बादल

घहराते हैं करुणा से,
पौधों से कहते हैं :
पानी लो,
पानी लो,
पानी ।

पौधे

लहराते हैं लहरों से,
बादल से कहते हैं :
सागर हैं,
सागर हैं
सागर ।

बाँदा, जुलाई, 1973

सुख-सर्जन का सबेरा

पूरब ने
फेंका हथगोला
लाल अगिन का
लाल अगिन से
जला अँधेरा
काल कठिन का
काल कठिन ने
रूप सँवारा
स्वर्ण वरण का
स्वर्ण वरण
फैला उजियाला
विश्व-भरण का
विश्व-भरण का
मेला हुलसा
जन-जीवन का
जन-जीवन
उच्छल लहराया
सुख-सर्जन का।

बाँदा, अगस्त, 1973

इंतजार में

इंतजार में

चुप हैं कलियाँ,
मुस्कराएँ जो तुम आओ,
आँख से आँख मिलाओ,
एकात्म हो जाओ।

बाँदा, मार्च, 1973

दूज का चाँद

पँखुरी एक
कमल की—
नरम,
मखनिया,
नभ में झलकी,
अनचूमी,
अनडसी नाग से,
निपट अकेली ।

बाँदा, नवम्बर, 1971

समय का डमरू

समय का डमरू

त्रिशूल पर टँगा है,
नाद और विनाद का नंदी पथरा गया है।

समाधि में

चले गये हैं शिव,
देह के देवता कपाट बंद किये हैं।

निस्पंद खड़ी हैं

लास्य में पार्वती,
कालजयी कटाक्ष का कुसुम-बान ताने।

बाँदा, अप्रैल, 1972

रामेश्वरम् के तट पर

घुड़दौड़ में
दौड़ा पानी
सागर में लहरें नहीं लड़ाता,
पस्त है
थका,
हारा,
दुख का मारा,
किनारे पड़ा बेचारा।

रामेश्वरम्, जून, 1972

मेघ-माया की रात

गहरा गयी है मेघ-माया की रात,
विकट है घट-घट में बसा अंधकार,
कैद में पड़ी है घरती

कुम्भीपाक के।

अलभ्य है आदमी को
आदमी का संदर्शन,
अप्राप्य है समय को

‘शेष’ के सिर का मणि,
चलते पाँव नहीं चलते हवा के,
प्राण हैं कि

भीतर-बाहर आते-जाते हैं
साँस-साँस से।

बाँदा, जुलाई, 1971

दूधिया दर्पण में

काम के क्रोड़ में
गुटरगूँ करते हैं
दोनों कबूतर
एक-दूसरे पर निछावर,
खुश है धूप
कि एक का दिल
दूसरे के दिल से मिला,
दूधिया दर्पण में
रक्त का अनझिप फूल खिला ।

बाँदा, अप्रैल, 1975

हम

रहे जितने दिन, रहने के नाम पर,
न रहने के अकेले विचार में,
टूटते प्यार की तरह
टूट गये हम।

बढ़े,
जैसे गम बढ़े,
बढ़ने के नाम पर,
न बढ़ने के मौसम में
सूखते पेड़ की तरह
सूख गये हम।
जिये,

जैसे भ्रम जिये,
जीने के नाम पर,
न जीने के छलाव में
लोप होने के क्रम में
लोप हुए हम।

किया
हमने कुछ नहीं,
करने के नाम पर,
न करने के सागर में
डूबते सूर्य की तरह
डूब गये हम।

बाँदा, जनवरी, 1971

सूरज मिलने की खुशी में

दिन को

मिल गया

दिन का लड़का सूरज,

कल जो खोया,

जाने कहाँ कौन से लोक में सोया।

खोज ले आई उषा,

गोद में लिये

गुलाब-गुलाब हुई।

खुश हैं

इस खुशी में

जमीन, जहान, और आसमान।

नदी में

लौट आये पानी के प्रान,

आनंद है तरंगित प्रवहमान।

लोक हो गया

ललित,

आदमी के आचरण से मुखरित।

एक हो गये

देश और मनोदेश।

बाँदा, अक्टूबर, 1970

तड़पन

जब से गये बादल
मोर नहीं बोला तब से
मेरे घर के पास ।
मुझको नहीं सुनायी पड़ी
मेरे आदिम मित्र के हृदय की आवाज
जो रात में कर दिया करती थी मुझे
ममत्व से विभोर ।
अब कठोर होती है हर एक रात—
स्तब्ध, गूँगी खड़ी रात,
न वह जीती है जैसे एक पल,
न मैं जीता हूँ जैसे एक पल ।
दोनों को पसन्द नहीं है एक दूसरे का अस्तित्व ।
बड़ी बुरी लगती है
डूब गयी नाव की तरह गायब हो गयी
जिंदगी,
बैठ गयी आँख की तरह
बेकार हो गयी जिंदगी ।
मैं, अब नहीं रह गया मैं,
बिना मेघ के, बिना मोर के ।

बाँदा, अगस्त, 1973

अफसर

पढ़ गया

औरों से ज्यादा

बढ़ गया

अफसर हूँ,

इसीलिए ऐंठा हूँ,

दूसरों की छाती पर

चढ़ा हुआ बैठा हूँ।

बाँदा, अप्रैल, 1970

सच

सच

अब नहीं जाता
अदालत में,
खाल खिंचवाने,
मूँड़ मुँड़वाने,
हाड़ तोड़वाने,
खून चुसवाने ।

सच,

अब झाँक नहीं पाता
अदालत में,
न्याय नहीं पाता
अदालत में ।

बाँदा, जून, 1970

जान-मार आदमी

पेट में

पड़ा तमंचा,

मुँह से

गोली दागता है।

आदमी

अब

आदमी को

जान से मारता है।

बाँदा, मई, 1971

मौत की सजा

हम

जीते हैं
जिये जिये को
फिर-फिर जीकर
उसी तरह से।
यही जुर्म है,
इसी जिये की
सजा मौत है।

बाँदा, जून, 1971

‘पेंडुलम’ और मैं

दायें से बायें

और बायें से दायें को
चलता हूँ ‘पेंडुलम’,
एक ही चाल और चरित्र से,
उम्र में मुझसे बड़ा,
फिर भी,
अब भी, मुझसे छोटा,
अब भी, मुझसे जवान।

और मैं

दायें से बायें
और बायें से दायें को चला,
दिल और दिमाग में
सोचता भला,
उम्र में उससे कम,
फिर भी ढला,
वृद्ध हुआ गला।
समय के मिजाज से
मेरा मिजाज न मिला।

बाँदा, जुलाई, 1977

नृत्यांगना

शरीर हो तुम,
सिर से पैर तक दर्शनीय ।
चुम्बकीय हो तुम,
अंग-प्रत्यंग से शारदीय,
उजागर ।
दिक्-बोध है
तुम्हारी देह का आलिंगन-बोध ।
तरंगित है
तुम्हारी कला-केलि में,
समय के सागर की
अथाह मनीषा ।
तुम हो अब
व्यष्टि और समष्टि की
वरेण्य नृत्यांगना ।

बाँदा, नवम्बर, 1975

तुम

तुम हो
-दिन में-
सूर्यमुखी नदी की
नटखट देह,
खुशमिजाज धूप।

तुम हो
-रात में-
गुलाब-फूलों की नाव,
चाँदनी के चुम्बनों की
कलहंसी देह,
बाहों में बिछलती-
नाचती,
स्वप्न-मयूरी तरंग।

मद्रास, जनवरी, 1975

चौराहा

चौराहा
बोलता है चुनाव की सभा में,
‘माइक’ थामे,
कुछेक सौ
आदमियों के सामने ।
व्याप्त मौन
अब भंग हुआ भीतर-बाहर
चुटकी बजाते,
वाचाल आक्रोश से ।
शब्द पर शब्द
भागते-दौड़ते
घुड़-दौड़ में,
चलते कुचलते चले जाते हैं
सबको, सब तरफ,
प्रतिशोध के
हजार अश्व-बल से ।

बाँदा, फरवरी, 1977

हल्ले की राजनीति

जो कुछ हुआ
सब चूर हुआ,
न हुए की छौंक का भाषण हुआ।
तर्कातीत हाय-हत्या
और हत्या के बाद हुड़दंग हुआ।
आग पर खड़े
आग के पुतलों का नाटक
और धुआँ हुआ।
हल्ले की राजनीति
हाथी पर चढ़ी,
दार्यों ओर जाने की हड़बड़ी में,
निरंकुशता से
झूमते-झामते
आगे बढ़ी।

बाँदा, फरवरी, 1977

मँहगाई

जमीन से उठकर,
ऊपर,
अंतरिक्ष में,
चली गयीं कीमतें,
आकाश गंगा में
डुबकी लगाने,
पुण्य कमाने।
नजर से बाहर,
नायाब हो गयीं वस्तुएँ
पाताल में धँसकर।
शाह हो गये चोर।
शहर में चालू है
चोर बाजारी,
फरेब-मक्कारी।
चोर के घर
नाचता है मोर,
मुग्ध है लक्ष्मी आत्म-विभोर।
असमर्थ है राजतंत्र
मँहगाई घटाने में।

बाँदा, जुलाई, 1973

उजाले में

सुबह से सूरज उजाला उगाये,
आँख खोले शोभित शासन करता है ।

जमीन और आसमान का भूगोल,
उग आये उजाले का आलिंगन करता है ।

द्वंद्व का नर्तक, काल,
नित्य और अनित्य का नर्तन करता है ।

नाश और निर्माण का भागीदार आदमी
शताब्दी के रंग-रूप का परिवर्तन करता है ।

बाँदा, नवम्बर, 1972

दिक् और काल में

सब कुछ
सब कुछ
दिक् और काल में हुआ,
ब्रह्मांड ही जैसे
कहीं घास,
कहीं घोड़ा हुआ,
कहीं दर्द,
कहीं फोड़ा हुआ,
औरत-मर्द का जोड़ा हुआ।
बाँदा, नवम्बर, 1972

अजदहे के पेट में

चलता आदमी

चलती सड़क पर

चलते अजदहे के पेट में चलता है,

कभी पूँछ,

कभी मुँह तक पहुँचता है,

तरह और तरकीब से

जिदगी बरतता है;

दुनिया के अजायबघर में

स्वयं को

अकेला और अजनबी

समझता है।

बाँदा, अप्रैल, 1972

पवन और पानी में

पानी को
पीट रहा ऊधमी पवन,
लहरों के
दौड़ रहे जंगली हिरन ।
देखो जी—
देखो जी
खोलकर नयन,
टूट टूट टूट रहे
फेन के भवन ।

बाँदा, जून-जुलाई, 1973

प्रलय का पौरुष

ज्वार पर
चढ़ा जन-उभार,
प्रलय का
पौरुष फुफकारता है,
मंत्र मारते
मदारियों से
हारता है।

बाँदा, जून, 1973

पेड़ का मौन

डाल पर
न बैठी रह सकी
चुलबुल चिड़िया,
उड़ गयी,
ऊपर,
चहकती,
अकेले,
महाकाश में।
देखते-देखते हो गयी अदृश्य।
पेड़ का मौन
उसको पुकारता है
मेरे भीतर-मेरे बाहर।

बाँदा, नवम्बर, 1973

आज का चाँद

रोशनी रोशनी हो गया चाँद-पूर्णमासी का शाहंशाह,
झराझर झरते हैं प्रकाशकाय झरने,
दूध-दूध में नहायी वशीभूत करती है जुन्हाई,
ज्वार-ज्वार-सी उमड़ आयी है जादुई लुनाई,
मोहिनी डालती हैं रूप-रूप हुई दिगम्बरी दिशाएँ,
सौन्दर्य की देदीप्यमान पारदर्शी देवांगनाएँ,
आनंद से घूमती है अवनी आकाश के आलिंगन में,
काल का कपाट खोले आदमी भास्वर भूगोल में जीता है,
आज के चाँद में कल के सूर्य का बिम्ब देखता है।

बाँदा, मार्च, 1977

देश की राजनीति

न आग है,
न पानी,
देश की राजनीति
बिना आग-पानी के
खिचड़ी पकाती है,
जनता हवा खाती है।

बाँदा, जुलाई, 1973

भारतीय सरकस

जब से आप आये
और सिर पर सवार हुए हैं,
मौसम जरूर बदला है तब से जीने का;

पंजीकृत हुआ है
भारतीय सरकस,
एक साथ नाचने लगे हैं
शेर और हाथी;

आदमी को
होना पड़ा है विदूषक,
एक हो गये हैं 'म्याऊँ' और मूषक।

बाँदा, जून, 1976

सितार-संगीत की रात

आग के ओठ बोलते हैं
सितार के बोल,
खुलती चली जाती हैं
शहद की पंखुरियाँ,
चूमतीं अँगुलियों के नृत्य पर,
राग-पर-राग करते हैं किलोल,
रात के खुले वक्ष पर,
चन्द्रमा के साथ,
शताब्दियाँ झाँकती हैं
अनंत की खिड़कियों से,
संगीत के समारोह में कौमार्य बरसता है,
हर्ष का हंस दूध पर तैरता है,
जिस पर सवार भूमि की सरस्वती
काव्य-लोक में विचरण करती है।

मद्रास, जून, 1977

अपना जन्म-दिन

नींद का नारियल तोड़कर
आज का अपना जन्म-दिन मैंने शुरू किया,
काँव-काँव करते कौओं को उड़ाकर,
पेड़ पर चढ़ी
कोलाहली क्रांति का सफाया किया,
पत्तियों के पूरे परिवार को मैंने
हुड़दंग से बचाया,
शांति के हरे छतनार छत को
मीनार की तरह ऊँचा उठाया,
दूध-दूध हुई धूप को देखकर
जीन-जान से खुश हुआ।
रोशनी के राज में
एक बार फिर नौजवान हुआ।
दायें की दोस्ती बायें से कराकर
दोनों बाजुओं से,
स्वस्थ और प्रसन्न हुआ।
नये आये अखबार की बानी सुनी,
चाय में घुली राजनीति की चुस्कियाँ लीं,
बाद को, तमाम दिन,

अपने और देश को,
सिनेमा के पोस्टरों में चिपका हुआ देखता रहा।
आज का अपना जन्म-दिन
मैंने इस तरह मनाया,
और रात को—
सपनों की लपेट में लिपटकर,
समाप्त कर दिया।

मद्रास, अप्रैल, 1976

‘लवर्स बीच’¹ पर

कल,

हम तीनों² ने सागर को
तट की ओर लुढ़कते आते,
काले भालू को घुराते,
बालू पर आकर गिर जाते,
पंजों से नाखून गड़ाते,
बड़े-बड़े आँसू
टपकाते,

निबल पड़ा-

गुमसुम हो जाते,
पहले पहर रात में देखा,
पानी की यह आदिम पीड़ा
जड़ जीवन की लाचारी है।

मद्रास, अप्रैल, 1976

1. मद्रास का एक सागर-तट।

2. मैं, श्री इब्राहीम शरीफ (अब स्वर्गीय) और शौर्य राजन।

बसंत में

सिर से पैर तक
 फूल-फूल हो गयी उसकी देह,
नाचते-नाचते हवा का
 बसंती नाच ।

हर्ष का ढिंढोरा
पीटते-पीटते, हरहराते रहे
 काल के कगार पर खड़े पेड़ ।
तरंगित,
 उफनाती-गाती रही
धूप में धुपायी नदी
 काव्यातुर भाव से ।

मद्रास, जून, 1977

में और प्रशांत

मैंने कहा : धूप है प्रशांत!
न चलो घर से बाहर।
प्रशांत ने गरम दूध पिया
और तनकर कहा :
गरम धूप भी पिऊँगा बाबा!
घर से बाहर भी चलूँगा बाबा!!
चलो न, कहकर,
उसने मुझे ठेला।
साथ में चलते-चलते मैंने
धूप का कष्ट झेला।
प्रशांत ने धूप को
गरम दूध की तरह पिया,
बच्चे ने बूढ़े को मात कर दिया।
मद्रास, अप्रैल, 1976

टिटिहरी

आसमान में उड़ी
टिटिहरी,
और उड़ते-उड़ते
बोलते-बोलते बोल,
दृष्टि से पार निकल गयी
जैसे
कोई कटार
हृदय के पार निकल गयी।

मद्रास, अप्रैल, 1976

यथावत्

यथावत् कायम है

कल की वही घायल¹ दुनिया आज भी,
जूझने के लिए आज भी।

यथावत् कायम है

कल का वही मायल¹ सूरज आज भी,
डूबने के लिए आज भी।

यथावत् कायम है

कल की वही हायल² मुश्किल आज भी,
रोकने के लिए आज भी।

यथावत् कायम है

कल का वही कायल³ दर्पण आज भी,
टूटने के लिये आज भी।

मद्रास, अप्रैल, 1976

-
1. झुका हुआ।
 2. रोकने वाली।
 3. गलती मान लेने वाला।

नागलिंगम्

‘पनगल’ पार्क में,
आज जब सुबह मैंने,
फूल हो गये साँप के खुले मुँह में,
समाधिस्थ शिव को
पुष्प-वाण से बिंधा,
अविचलित देखा

तब

प्रकृति की रम्य रचना—
नागलिंगम्¹ पर—
मुग्ध हो गया,
कालजयी चिंतन की
विषपायी प्रभुता से
धन्य हो गया।

मद्रास, अप्रैल, 1976

1. नागलिंगम् : साँप के फन के खुले मुँह की तरह का एक फूल जिसके नीचे के तालू में शिवलिंग प्रतिष्ठित रहता है।

कल का दिन

कल का दिन चला गया,
बिना प्यार-पौरुष के
छला गया,
हाथों से मला
और पाँवों से दला गया।

मद्रास, अप्रैल, 1976

प्यार का प्रवाल-द्वीप

तुम,

बस तुम,
जीती हो अपना लावण्य
अपने मांसल-द्वीप में,
अभिषेकित किये हैं जिसे
दिन और रात के
दो महासिंधु,
एक, उल्लास और प्रकाश से;
दूसरा, स्वप्न
और स्वप्न के
प्रेमालाप से।

तुम,

बस तुम हो
जैसे
उन्हीं का अपना
प्यार का प्रवाल-द्वीप।

मद्रास, जून, 1977

अहं-खोजी

मैंने

उसे देखा है

अपनी इन आँखों से,
धूल के बवंडर में उड़ते-खोजते अपनी दुनिया,
दूर-बहुत दूर हमारी दुनिया से—
दूरातिदूर शून्य की दुनिया में विला¹ जाते।

मैंने

उसे देखा है

अपनी इन आँखों से,
काल के तलातल में डूबते-उतराते—
खोजते अपना अहं,
दूर-बहुत दूर समष्टि के अहं से—
दूरातिदूर पाताल के अहं में समा जाते।

मद्रास, मई, 1976

1. विला = विलय होना-गायब होना।

वे और हम

और हैं वे
जो आदमी की खोल में
खोखले जीते हैं,
अस्तित्व के बड़े रीते हैं,
हम नहीं वे
कि खाल की खोल में खोखले रहें,
शून्य का अस्तित्व भोगते रहें,
आदमी से
आदमी न होने का छलाव करें,
अहंमन्यता से
अहं का बचाव करें,
मौलिक दुराव की
मौलिकता वरें;
निस्संग-अकेले-
जी में जियें और मरें।

मद्रास, जून, 1976

दिन-धरती-जनता

चक्की चलती
दिन की
हड्डी-पसली पिसती,
क्षण-क्षण के कण-कण की
उड़ती धूल करकती ।

धन की धरती
शीश महल से
खड़ी निरखती,
देख नहीं पाती है अपनी नींव खिसकती ।

लेकिन चुन-चुन
क्षण-क्षण के कण,
जीवित जनता
जोड़ रही है दिन की हड्डी-पसली-ममता,
दृढ़ से दृढ़तर बना रही है अपनी क्षमता,
न्याय-निरूपित
जिला रही है
सब की समता ।

मद्रास, जून, 1976

सिंधु-किनारे¹

सूरज गया,
रात ने अपने पंख पसारे,
निकल पड़े भीतर से बाहर
नभ में तारे,
हाहाकार समय करता है
सिंधु-किनारे,
शील-भंग होता लहरों का
बिना बिचारे ।

मद्रास, जून, 1976

1. मद्रास के सागर-तट पर ।

फूल-से दिन

गेंदे के फूल-से
 फूले हैं दिन,
आओ तुम आओ तो
गुलाब भी खिलें,
बाहों से बाहों में एक हो मिलें,
 मिलने के फूल-से
फूले हैं दिन।

मद्रास, जून, 1976

गुलाबों का दरिया

जिये हम
गुलाबों का दरिया,
महकता-मचलता लिये हम।

बनाये बसंती-नवेली को अपना,
हृदय से लगाये,
हवा के सुरीले स्वरों में समाये,
सितारों की आँखों से
हम मुसकुराये,
जिये हम
गुलाबों का दरिया,
महकता-मचलता लिये हम।

मद्रास, मई, 1976

डूबता सूरज

सूरज

समाचार में है,
प्रकाश-प्रक्षेपण के
विश्वस्त विस्तार में है;
डूबते-डूबते भी
किरणों के रत्नहार में है;
अपराजित
आदमी के
संज्ञान और विचार में है।

बाँदा, मार्च, 1976

बोलता चाँद

चुप-बोलती
चाँदनी में,
बोलता है चाँद
आसमान का
नीलम-रहस्य
जमीन में
खोलता है
चाँद।

बाँदा, मार्च, 1976

समवेदना में खड़ा आदमी

जो आदमी,
मर गये आदमी के पास,
समवेदना में खड़ा है,
वह आदमी
जुल्म और जंगल से
निजात पाने के
इंतजार में खड़ा है।

बाँदा, जनवरी, 1977

सरकार

सरकार है अखबार में;
रेडियो के सूचना-संचार में;
अधिनियम,
आदेश,
अध्यादेश की भरमार में;
अफसरी आतंक की
तलवार में।

रक्षित-सुरक्षित लोग हैं
सरकार में,
चुन दिये जैसे गये दीवार में।

मौत
अनुशासित किये है,
प्यार में,
प्यार के
इस लोकतंत्री ज्वार में।

बाँदा, सितम्बर, 1976

जनाना देश

जनाना हो गया है देश,
खुबसूरत हो गया है क्लेश का अहिंसक वेश,
सिर से पैर तक
हसीन हो गयी हैं बुराइयाँ,
तलुवे चाटती हैं अच्छाइयाँ,
संसद और संविधान में नाचती है निर्मम नायिका,
छमाछम बजता है पिता का साज,
पुत्र के तबले से
उठती है धूमधड़ाके की आवाज,
लेकिन तड़पती है
पिंजड़े में पड़ी
आम आदमी की मैना,
आपात्कालीन संकट भोगती—
जिंदगी—जनतंत्र को, राजतंत्र को कोसती।

बाँदा, अगस्त, 1976

सरकार, अफसर और जनता

सरकार सोचती है

अफसर के माध्यम से अपना भला,

अफसर सोचता है

सरकार के माध्यम से अपना भला,

जनता सोचती है

सरकार और अफसर से

हो नहीं सकता भला,

इसीलिए

जनता का कटता चला जा रहा है गला,

सरकार और अफसर की

संगठित लड़ाई में,

जनतंत्र के ऊपर

राजतंत्र की चढ़ाई में।

बाँदा, अगस्त, 1976

भागीदार तुम

सब कुछ नहीं करते हो अच्छा
सब कुछ नहीं करते हो खराब
फिर भी अच्छा

फिर भी खराब
एक दूसरे से करते हैं एतराज
एक दूसरे से होते हैं नाराज
एक दूसरे के

खड़े होते हैं खिलाफ
जब भी जहाँ भी मिलते हैं
एक दूसरे को

चाकू मारते हैं
अच्छा और खराब
एक दूसरे का खून चाटते हैं
और तुम

इस सबके लिए जिम्मेदार हो
इस सब खून-खराबी के लिये
गुनहगार हो
बड़े-से-बड़े दण्ड के भागीदार हो।

बाँदा, अगस्त, 1976

उदास पूर्णमासी

सन्न है

अषाढ़ की उदास पूर्णमासी,
बादलों के विकार से ग्रस्त।

चंद्रमा की रात

चंद्रमा के इन्तजार में खड़ी
काठ हो गयी देह से,

हवा को हाँक ले गयी नींद,
शहर से बाहर,
चरागाह में

आराम कराने।

मौन है,

कपाट बंद किये,
जमीन-आसमान की संसद,
आदमियों के प्राण,
प्रकृति के संविधान में

परिवर्तन चाहते हैं।

बाँदा, जुलाई, 1976

बदल-पंखी मौसम

बदल-पंखी

चुप-चुप मौसम;
फुहियों के फाहों की
नम-नम

ढलती शाम;
मुट्टी-बन्द उठे हाथों के
भीगे-भीगे पेड़,
ठिठके,

ठहरे,
पाँव समय के,
हवा बन्द निस्पंद;
टूट रहा

टप-टप बूँदों से
सन्नाटे का काँच,
महानगर का मौन।

बाँदा, जून, 1976

विरक्ति के मुँह में

एक और दिन उड़ गया
कबूतरी गुटरगूँ का।

एक और शाम ढल गयी
गुलाब पंखुरियों की।

एक और रात रो गयी
ओस के मोतियों की।

अब तक अकेला मैं अकेला हूँ
विरक्ति के मुँह में,
त्रिकाल को भोगता,
दिन के साथ उड़ता,
शाम के साथ ढलता,
रात के साथ रोता।

बाँदा, जून, 1976

शिकायत

‘कल’

जब ‘आज’ बनकर

मेरी ही शक्ल में मेरे सामने आया

और उसने

फिर उसी पुरानी दुनिया का चक्कर चलाया,
गधे की दुम में खाली कनस्टर बाँधकर उसने उसे
शहर के सीने पर शाम तक

डंडे मार-मारकर दौड़ाया

शहरी जिंदगी में होहल्ला मचाया;

तब मैंने उसे

उसकी इस करतूत का मतलब

दार्शनिक लहजे में समझाया,

नये दायित्व के नये बोध से अवगत कराया,

लेकिन वह, इस पर भी, बाज नहीं आया;

अधिकांश नयी होनहार तब्दीलियों को उसने

बेकार और निरर्थक बताया;

गयी-बीती राजनीति से ही उसने

काम-काज को आगे ठेलने का इरादा जताया;

डूबते सूरज के साथ डूबते हुए उसने

इस संसार को रात के अँधेरे में डुबाया,
इस तरह आये 'कल' ने मुझे
और मेरी पीढ़ी को,
बरबादी के घाट लगाया।

इस 'आज' से
इस 'मुझ' से
बहुत शख्त शिकायत है मेरी पीढ़ी को
कि इसने
जिंदगी को जीने के लायक नहीं बनाया।

बाँदा, अप्रैल, 1976

देश की राजनीति

स्वच्छ सन्नाटे का लॉन,
दूब की दरी बिछाये ओस चाटता है
रात में आसमान से झरी,
पवन के पाँव पकड़े,
चहारदीवारी में कैद
बाहर हुआती है
देश की राजनीति,
संसदीय लोकतंत्र के पक्ष में,
डूब गये
सूरज को
पुकारती।¹

बाँदा, जून, 1977

1. श्रीमती इंदिरा गाँधी पतन के बाद अपने आवास में कुछ समय तक चुप रहीं परन्तु बाहर, देश की राजनीति, समाप्त कर दिये गये लोकतंत्र के पक्ष में हलचल करती रही।

पहला पानी

पहला पानी गिरा गगन से

उमँड़ा आतुर प्यार,

हवा हुई, ठंढे दिमाग के जैसे खुले विचार।

भीगी भूमि-भवानी, भीगी समय-सिंह की देह,

भीगा अनभीगे अंगों की

अमराई का नेह।

पात-पात की पाती भीगी पेड़-पेड़ की डाल,

भीगी-भीगी बल खाती है

गैल-छैल की चाल।

प्राण-प्राणमय हुआ परेवा, भीतर बैठा, जीव,

भोग रहा है

द्रवीभूत प्राकृत आनंद अतीव।

रूप-सिंधु की

लहरें उठतीं,

खुल-खुल जाते अंग,

परस-परस

घुल-मिल जाते हैं

उनके-मेरे रंग।

नाच-नाच

उठती है दामिनी

चिहुँक-चिहुँक चहुँ ओर,

वर्षा-मंगल की ऐसी है भीगी रसमय भोर।

मैं भीगा,

मेरे भीतर का भीगा ग्रंथिल ज्ञान,

भावों की भाषा गाती है

जग जीवन का गान।¹

मद्रास, जून, 1976

1. रामविलास जी को मद्रास से लिखी 4 जून, 76 की कविता में है—'विश्व विमोहन गान'
—अशोक त्रिपाठी।

संत कवीश्वर तिरुवल्लुवार के प्रति

हे कवि-पुंगव !

आज तुम्हारे स्मारक का उद्घाटन होगा,
वायुयान से उड़कर आये

‘भारत-भाग्य-विधाता’ द्वारा।

वह नत-मस्तक होंगे उन्नत गिरि के आगे-

‘वाणी बोधमयं नित्यम्’ के आगे

सिद्ध यशस्वी काव्य-व्रती के आगे।

काल-जयी-

शब्दार्थ निरूपित-पूर्णकाय-

आसनस्थ-महीधर-

महारथी के पाद-पद्म पर,

पूरे भारत की श्रद्धा का

माल्यार्पण वह आज करेंगे,

प्रांत-प्रांत की जन-मन-वाणी से अभिनंदन समुद करेंगे।

आज बड़े गौरव का दिन है ‘तमिलनाडु’ का,

‘तमिलनाडु’ के माध्यम से

पूरे भारत का,

भारत के माध्यम से पूरे जन-जीवन का

जिसको तुमने

बड़े चाव से-बड़े प्यार से-

वर विवेक से साधा,

मनोयोग से 'तिरुक्कुरल'¹ की पंक्ति-पंक्ति में बाँधा।

यह माल्यार्पण-यह अभिनंदन याद रहेगा,

समय-पटल पर लिखा रहेगा,

क्योंकि देश की राजनीति के राज-पुरुष ने

-काव्य-पुरुष के प्रति कृतज्ञ हो-

साहित्यिक-सांस्कृतिक चेतना की वरीयता स्वीकारी है,

'तिरुक्कुरल' की भाव-भूमि पर

मानव को खोजा-पाया है,

राजनीति के कंधों पर कवि को आसीन किया है।

मुझे ज्ञात है : कवि-श्री तुमको

सत्तरलाखी 'कोट्टम'² की दरकार नहीं है

क्योंकि तुम्हारे छंद-छंद के एक-एक 'कोट्टम' की कीमत

ऐसे नये बने 'कोट्टम' की लागत से भी

लाखों लाख गुना ज्यादा है।

'यह कोट्टम' तो नश्वरता की पार्थिव कृति है

और तुम्हारी कृति के 'कोट्टम'

अमर-अपार्थिव-दिग्विजयी हैं।

1. दोहे की तरह का छंद।

2. मंदिर।

मैंने पार्थिव 'कोट्टम' देखा
इस देखकर मैंने तुमको सचमुच देखा,
तुम्हें देखकर
अमर तुम्हारी कविता के 'कोट्टम' भी देखे।

मैंने पाया :

राशि-राशि मणियों से भूषित काव्य-मूर्तियाँ
'कुरल-कुरल'¹ में मुसकाती हैं,
हृदय-हृदय के संवेदन-स्वर
-मानव-जीवन के प्रति अर्पित-
वर विवेक की संतोषी साँसें भरते हैं,
धर्म-अर्थ के, और काम के वरदानी चित्रण करते हैं।

युग बीता,

पर एक बूँद से भी तो अब तक हुआ न रीता
महावेग से पूर्ण प्रवाहित 'तिरुक्कुरल'
नये बने 'कोट्टम' के भीतर
अब यह सागर पहुँच गया है,

मैंने देखे :

जग-जीवन में अब लहराते दो-दो सागर,
'तमिलनाडु' को सिंचित करते दो-दो सागर,
खारे सागर को शरमाते दो-दो सागर,

1. दोहे जैसे छंद।

मैं उत्तर भारत का वासी,
दक्षिण भारत में आया तो धन्य हो गया,
'तिरुक्कुरल' के रस-सागर की लहर हो गया।

संत कवीश्वर!
मैं तुमको अर्पित करता हूँ
हिंदी की यह अपनी कविता।

मद्रास, अप्रैल, 1976

बहुत अच्छा लगता है मुझे

बहुत अच्छा लगता है मुझे
जमीन पर जान डालता—
शेर की तरह दौड़ता,
सुबह का समर्थ उजाला;
कूच कर गया है जिसे देखकर
अंधकार का जंगली रिसाला।

बहुत अच्छा लगता है मुझे
पहाड़ पर फूट-फूट पड़ना
आसमान के बाग के लाल-लाल पक्के अनारों का,
शिलाओं का-सिर से पैर तक—
फूल-फूलकर
कचनार-कचनार हो जाना।

बहुत अच्छा लगता है मुझे
नदी का अपने ही पानी में तरंगित झूलना,
खगोल की रंगशाला के
नाटकीय मुद्राओं के सौन्दर्य का वरण करना।

बहुत अच्छा लगता है मुझे
हवा के सुर बहार का
बारम्बार बजना,
सदारंग संसार का भावातिरेक से संस्पर्श करना।

बहुत अच्छा लगता है मुझे
पेड़-पेड़ की गोद में दुधमुँहे फूलों का
कुलेल करते-करते कुलकना,
ओठ और आँख खोले
रंगीन नैसर्गिक हँसी हँसना।

बहुत अच्छा लगता है मुझे
घोंसलों से निकल आर्यीं चिड़ियों का
गान की उड़ान से आसमान में उड़ना,
चाव से चोंच खोले, हर्ष से चहकना।

बहुत अच्छा लगता है मुझे
जमीन-आसमान की सैर करना,
लोक और आलोक के सौन्दर्य से प्रदीपित रहना,
जिंदगी को जी-जान से प्यार करना,
भूगोल और खगोल का संघात सहना।

बाँदा, अगस्त, 1974

बनारस की प्रशस्ति में

प्रणाम करता हूँ मैं

बाबा विश्वनाथ के परमधाम को

वैभव से भी अधिक भास्वर है जहाँ की शिवांगी भभूत,
त्रिलोकजित है जहाँ का लकदक खड़ा त्रिफलक त्रिशूल,
हताहत करती है

जहाँ के मोहांधकार को

चंद्रचूड़ के चन्द्र की प्रतनु मुसकान;

नीलकंठ से लगा

झूलता रहता है जहाँ

दिगंती जयमाल-काल का कराल व्याल;

डिमिक-डिम बजता है जहाँ

नटराज के राग और विराग का आदिम डमरू;

अपराजेय ललकारता है जहाँ की दिशाओं का

चतुष्पादी शम्भु-सेवी नंदी;

किलोल करती है जहाँ,

कालान्तर से अब तक,

जीवन की ज्योतिर्मय जाह्नवी।

प्रणाम करता हूँ मैं

सरनाम नागरी-नगरी बहुरिया को,

ओढ़ ली है जिसने

कबिरा की झीनी-बिनी चदरिया,
श्रवण कर ली है जिसने
कटार-सी काटती-खरी खोटी-
अजर-अमर बानी,
'उलटवासियों' का पी लिया है जिसने
भरपेट अर्थ-गम्भीर पानी,
जो न रही हिंदुवानी-
न रही तुरकानी,
मर्त्यलोक में हो गयी अमर्त्य कल्याणी ।

प्रणाम करता हूँ मैं
रामायण के रचयिता तुलसी की काव्य-भूमि को,
निथर कर बह आई है जहाँ 'भाषा' में
संस्कृत की भुवन-मोहिनी सरस्वती,
सप्तर्षियों की तरह चमक उठे हैं जहाँ
शोभायमान सातो कांड,
भक्ति और भावना से भर गया है जहाँ
ज्ञान और विज्ञान का सागर,
खुल गयी है जहाँ पहले-पहल
कलियुग के राजतंत्र की कलाई;
चित्रित हो गया है जहाँ
जनता के जीवन में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र ।

प्रणाम करता हूँ मैं
'भारतेन्दु' की साहित्यिक श्री-सम्पन्न काशी को

प्रदर्शन हुआ जहाँ सर्वप्रथम
‘टके सेर भाजी टके सेर खाजा’ का,
खड़ी हो गयी जहाँ खड़ी बोली तनकर
साम्राज्यवाद के विरोध में,
टूटते-टूटते
टूटने लगी जहाँ
धर्मान्धता की जकड़बंदी,
मानवीय मुक्ति को साकार करने लगे जहाँ
देवकीनंदन खत्री के जासूसी उपन्यास,
महाजनी सभ्यता पर
बारम्बार किया प्रेमचंद ने जहाँ
लौह-लेखनी से प्रहार,
कविवर ‘प्रसाद’ की ‘कामायनी’ ने जहाँ लिया अवतार,
मानव की महिमा से मंडित
चमकने लगा जहाँ का
नवोन्मीलित संसार।
प्रणाम करता हूँ मैं
आम आदमी के उदरंभर आमोदित बनारस को
पान की तरह जहाँ प्यार से पला करता है
उपलटफेर में पड़ा जीवन,
भोर होती है जहाँ—
भैरवी की धुन से—सूरजमुखी,
टुमकती चलती है जहाँ ‘दादरा’ के साथ
ठनगन करती ‘ठुमरी’,
ठाठ से ठनकता है जहाँ कराघात से

ठेठ हिंदुस्तानी तबला,
मनोभवन में गूँजती रहती है जहाँ
कला-कुशल बिसमिल्ला की शानदार शहनाई,
बेला अलबेला ही जहाँ अकेला
लगाये रहता है सुगंधित मेला,
एक कर दिया है जहाँ
लोकतंत्र के गमछे ने
अमीर और गरीब को,
हवा में हिलती है अब जहाँ
समाजवाद की
हरी हरी पतली डाल।

बाँदा, सितम्बर, 1975

पानी

बौछार मारता है
बड़ी बूँदों का पानी,
आकाश से उतरता—
जमीन पर बिछलता
रत्नहार पानी;
मेध से मुक्त हुआ
आमोदित सरकता पानी;
सरीसृप की तरह
लहरता पानी;
समीर के संस्पर्श से
घुँघरुओं की तरह
बजता पानी;
प्रत्यागत पानी,
पृथ्वी की प्रदक्षिणा में
प्रवहमान पानी,
चराचर के द्वन्द्व का
निर्वहन करता पानी ।

मद्रास, अगस्त, 1973

आदमी के हाथ का बजता सितार¹

कराहते सागर की हिलोर से टनकता,
तार-तार से तड़पता,
बजता है
आदमी के हाथ का सितार;
पवन और पानी के प्रवाह में जैसे
मौत और मुहब्बत का
नाटक खेलते-खेलते,
मिलते-बिछुड़ते, आलोक और आग करते हैं
एक-दूसरे की विनय स्वीकार और अस्वीकार,
मेरे ही मनोजल पर खिला जैसे
मेरा ही जलजात,
मुझसे ही विदलित,
झरती पंखुरियों से
करता है
मुझसे ही
आतुर आर्त पुकार।

मद्रास, अगस्त, 1973

1. मद्रास में श्री इन्द्रप्रकाश के घर में ग्रामोफोन का एक बजता रेकार्ड सुनकर।

मीनाकुमारी की मृत्यु पर

रेत में

खो गयी नदी,
सागर पछाड़ खाता है इंतजार में,
अदृश्य में
उड़ गयी रोशनी,
'हुआ-हुआ' करता है अंधकार का सियार,
अँगुलियाँ सहलाती हैं समय का सितार
संगीत नहीं बजता—

बिना तार और प्यार के,
हवा का रुक गया है जुलूस
प्यार के मजार के पास,
झुक गयी है नकाब ओढ़े दर्द की डाल,
न आग है, न आग का नाच,
सपाट है बर्फ की सड़क
बिना पदचाप के,
अनंत को चली गयी, मौन हुई।

बाँदा, अप्रैल, 1972

दर्द और हमदर्द

जब आये
साथ-साथ आये, दोनों,
दर्द और हमदर्द,
एक ने मारा छुरा,
दूसरे की सहानुभूति से
घाव पुरा।

बाँदा, सितम्बर, 1970

अपराधी नागरिक

आज तो सविशेष चमकदार धूप निकली है मेरे नगर में
कि साँस-साँस से समाया चला जाता है-हृदय-हृदय में प्रकाश;
कि सबको दिखायी दे रहे हैं सबके तन और सबके मन;
कुछ भी नहीं रह गया है कहीं भी किसी के भीतर-बाहर अपरिचित;
सब हो गये हैं जैसे-बेनकाब-

सब हो गये हैं जैसे पारदर्शी-

सब हो गये हैं एक-दूसरे के चरित्र और चित्त से अवगत आर-पार;
खुल गया है जैसे सभी के आचार-विचार और व्यवहार का

‘भानुमती का पिटारा’

सूर्य के समक्ष, उसकी अदालत में खड़े हैं जैसे सभी नागरिक,
सिर झुकाये, स्वीकार किये अपनी-अपनी जिंदगी के दैनिक अपराध,
दण्ड के भागीदार करार दिये जाने के लिए पहली बार;
मुझे भी हो रही है ग्लानि कि मैं भी हूँ एक गुनहगार
उन्हीं में से एक-दण्ड का भागीदार करार दिये जाने योग्य
लेकिन, शाम तक, सफेद होते-होते, न हुआ कोई फैसला,
और सूर्य के नदी में डूबने के बाद बन्द हो गयी अदालत,
और हम सब

इस नगर के पचास हजार नागरिक
एक ही समानधर्मा, अँधेरे के अस्तित्व में कैद हो गये,
एक-दूसरे से अलग-अलग

फिर से हो गये अपरिचित और अजान,

ग्लानि के बाद, सुबह तक स्वप्न-ही-स्वप्न
देखते रहने के लिए।

और फिर,

दूसरे दिन उठकर,

फिर नयी रोशनी के नये अपराध

नये सिरे से बेलगाम करने के लिए

कमर कसकर तैयार हो गये,

जैसे अब

फिर दुबारा, न खड़ा होना पड़ेगा किसी को,

किसी भी अपने नये अपराध के लिए,

नये सूर्य की नयी अदालत में।

बाँदा, अगस्त, 1973

मदरास

दिन से अधिक रात में सुन्दर,
यह मदरास मुझे प्रिय लगता,
व्यापक बिम्बों-अनुबिम्बों का महानगर यह
महाकाव्य है सुख-सनेह का-
रूप-बोध की खिली देह का-
ऐसा मुझको लगता।
मंत्र-मुग्ध मैं इसे निरखता,
नील गगन के ताराओं की
मौन मोहिनी दीप्ति दृष्टि में,
सागर की हलचल की लहरों की मालाएँ गुम्फित करता,
भूमि-भवानी की तप-तापित काया को रोमांचित करता,
यह मदरास मुझे प्रिय लगता
मंत्र-मुग्ध मैं इसे निरखता।

मद्रास, जून, 1971

कैलेंडर का नारी-चित्र देखकर¹

खुले-के-खुले हैं
हँसी में खुल गये दोनों ओठ,
धनुषाकार मुँह के।
द्वार पर दंडित खड़े हैं सात-आठ दाँत,
सिद्धि की साधना में समर्पित,
शीर्षासन करती
दिखायी देती है
लम्बी नाक की लम्बी लौंग,
भवों से बिद्ध,
कपार के पाट को ऊपर उठाये,
दिगंत देखते चक्षुओं की मध्यस्थता में,
काम्य कपोलों का
प्रभुत्व स्वीकार किये।

बाँदा, जनवरी, 1977

1. देश की जानी-मानी महिला का चित्र

सोन-अगिन शाम

अंगारों की
सोन-अगिन निर्धूम शाम यह,
डूब गये रवि के उपरांत, अकेली,
उत्तर से लेकर दक्षिण तक,
क्षितिज-पटल पर,
दारुण दुख से दह-दह दहकी,
नदी-पार, फिर,
जैसे कोई
इस युग का लाक्षागृह दहका,
कुरुक्षेत्र का महासमर फिर
रक्त-पात कर गया अचानक
मेरे दिल में
दहल मच गयी ऐसी
रक्त-रक्त आरक्त हो गया मेरा चिंतन।
ऐसी शाम
न देखी मैंने,
देखी तो अब
आग लगी यह दुनिया देखी,
मनस्ताप से दग्ध
देश की देही देखी,

ठिठका,
ठहरा,
खड़ा-खड़ा मैं सन्न रह गया।
तभी रात ने
केश खोलकर ढँकली धरती,
दग्ध देश की देह केश के नाग-पाश में
कैद हो गयी,
मेरे मन में
आग-अँधेरा एक हो गये,
सोन-अगिन-निर्धूम शाम के
रक्त-पात के बाद।

बाँदा, सितम्बर, 1976

अपने मन की बात

उतारकर
धर दिया है मैंने
अपना बड़प्पन,
वहाँ,
उस मुरदा अजायबघर में,
जहाँ
मरणोपरांत धर दी जाती हैं
बड़े-बड़ों के बड़प्पनों की उतारनें।

हल्का हो गया हूँ मैं,
सहज-साधारण हो गया हूँ मैं,
आदमियों के साथ
जीने के लिए
तैयार हो गया हूँ मैं।

न चाहिये मुझे
ऐरावत की सवारी।
न चाहिये मुझे
इंद्रासन,
न चाहिये, मुझे
पारिजात।

बस,

अब,

बहुत काफी है मुझे,

मेरे लिए लोकतंत्र की जमीन

जो हो रही है

दिनों दिन

मानववाद से हसीन,

यही तो है मेरे काव्य की,

परम प्रेरक-प्राण से प्यारी

जन्मभूमि,

यही तो है

मेरी मनोभूमि।

बाँदा, मई, 1964

यहाँ भी

यहाँ भी पुलिस
और पुलिस का डंडा है,
शासन का समाधान पुलिस का हथकंडा है।

यहाँ भी जीने
और मरने की इजाजत है,
मौत के मुँह में घुटने टेके
जिंदगी की इबादत है।

यहाँ भी भाग्य
और अभाग्य के छोटे-बड़े योग हैं,
बने और बिगड़े
तने और तगड़े लोग हैं।

यहाँ भी
धर्माधिता की गठरी में बँधा हिंदुस्तान है,
बँधे हिंदुस्तान का बँधुवा
हरेक इन्सान है।

यहाँ भी
एक रास्ता दूसरे रास्ते को काटता है,
महानगर के भूगोल को
भुलावे के अक्षांश और

देशांतर में बाँटता है,

यहाँ भी

हुस्न और इश्क में झगड़ा है,
एक का बाग उजड़ा
तो एक का दिल उजड़ा है।

यहाँ भी

प्यार और पानी में फर्क नहीं है।
जवानी और बुढ़ापे में फर्क नहीं है।

यहाँ भी

एक टोपी है
टोपी के भीतर एक चोटी है,
चोटी के तले
अक्ल की जड़ बड़ी मोटी है।

यहाँ भी ऐसा है

कि अच्छा भी
खराब जैसा है,
खराबी का मूल कारण
पेट-पीठ-मार पैसा है।

मद्रास, मई, 1976

आज का लेखन

आज का लेखन,
सूर्यास्त की प्रशस्ति
और तमिस्रा के प्रतिष्ठान के प्रति
समर्पित लेखन नहीं है,
बल्कि
सूर्योदय की कर्तव्य-परायण धूप की
लपलपाती जवानी का,
अग्रगामी जीवंत लेखन है।

आज का लेखन,
नये के निर्माण को
साकार करते
कलाकार उजाले का, मानवीय लेखन है।

आज का लेखन,
आग के अँगूठों की
क्रांतिकारी कतार का,
बंदूक-मार लेखन है।

आज का लेखन,

अहं की कुंठित इकाई का
संत्रस्त लेखन नहीं

बल्कि

हिल्लोल और हिंडोल का

भू-कम्पी लेखन है।

आज का लेखन,

नरक के निर्यात

और स्वर्ग के आयात का,

सम्बद्ध और सम्पृक्त लेखन है।

मद्रास, अप्रैल, 1976

सिनेमाई संसार

दिलकश और दर्दनाक है
यहाँ का सिनेमाई संसार,
वातानुकूलित, ऊँची इमारतों का गद्देदार,
देखने को मिलती हैं, इसके चित्रपटों पर
चलती-फिरती छायाएँ,
देश-विदेश की बोलती-चालती तरह-तरह की फिल्में,
'आउटडोर' और 'इनडोर' की 'शूट' की हुई,
सत्य और असत्य की दृश्यावलियाँ,
'मेक अप' किये हुए
जानाने और मरदाने जिस्मों की जमातें,
'फार्मूलों के चौखटों में जड़ीभूत
त्रिकोणात्मक जीवन-वृत्त की कहानियाँ
पूँजीवादी विसंगतियों में फँसे हुए
इश्क और हुस्न की हो रही कुर्बानियाँ,
पिटी-पिटायी आकर्षण और विकर्षण की
चिपचिपी अश्लील चित्रावलियाँ।
यहाँ मिलते हैं :
आम आदमियों के परिवारों के
बनते-बिगड़ते चरित्र;
द्वंद्व में दुर्बल और दलित हो गयी
जनता के संतापित संघर्ष।

बड़ा टीसमार होता है यहाँ का
फरेब के फूलदान में फूल की तरह खिला
कुछेक साधन-सम्पन्न लोगों का हर्ष ।

एक-से-एक नायाब होती हैं यहाँ की,
‘मारधाड़’ की पकड़ में
भागते-दौड़ते कैमरों की
खतरनाक करामातें ।
दर्शकों से खचाखच भरे होते हैं
यहाँ के बड़े-बड़े हॉल ।

बड़ी मनोरंजक और
बड़ी प्राण-पीड़क होती हैं यहाँ की
‘सिलोलाइड’ पर उतरतीं जिंदगी की तस्वीरें ।

नाम और चाम का यहीं तो चलता है सरेआम
खनकता व्यापार ।

मद्रास, जून, 1976

लोगों का जीवन

छाया मेघों की,
मयूर का नाच,
सिर के ऊपर उड़ते कौए,
पाँव तले की घास,
रेत काटती
नदी नवेली,
बातूनी
बातास बहकती,
कठघोड़े पर चढ़े समय की
बिना चले की चाल,
ऐसा जीवन
जीता है मैदान।
ऐसा ही
जीवन जीते हैं
आज देश के लोग।

बाँदा, सितम्बर, 1976

हिंदी

हिंदी-

शासन की शरणागत हिंदी,

नेताओं की,

मुख्यमंत्रियों

और मंत्रियों की अभंग पद हिंदी,

अफसर-अधिकारी लोगों की अफलातूनी हिंदी,

कागज-पत्र में आवर्तित हिंदी

दफ्तर-दफ्तर में आरोपित दफ्तरशाही हिंदी,

अध्यादेशों-अधिनियमों से दंशित-दंडित हिंदी,

नहीं-नहीं है जन-जागृति की जीवित हिंदी,

शोषण के सम्पूर्ण समापन की सम्मानित हिंदी।

यह हिंदी है राजनीति की हिंदी,-

नहीं-नहीं है हृदय-हृदय, की हिंदी।

अपर ओर है

एक दूसरी हिंदी,

शिक्षा-संस्थानों के पाठ्यक्रमों की ग्रंथिल हिंदी,

शब्द-कोश के कठिन कार्य की तत्सम-पुत्री हिंदी,

विद्या-वारिधि के श्रीमुख की वाणी-भूषित
ज्ञान-गाँठ की प्रांजल हिंदी,
बुद्धि-विदूषक की दुर्मति की कुटिल कामिनी हिंदी,
हिंदी के राजा लोगों के राजतंत्र के
चक्र-चाल की हिंदी,
पतनशील प्रेतों के व्यापक छद्म-जाल की हिंदी,
वर विवेक को बाधित करती रूढ़ि-रूपिणी हिंदी,
धर्म-धारिणी-मोक्षदायिनी-
सम्प्रदाय-सामर्थ्य-वाहिनी हिंदी,
जन-जीवन के चित्र-चरित्रों की अवहेला करती हिंदी,
मानव-गरिमा को अपमानित करती हिंदी,
वैचारिक वंचना प्रचारित करती हिंदी,
केवल कुछ के रूप-स्वाद की हिंदी,
यह हिंदी की राजनीति की हिंदी,
नहीं-नहीं है जन-भारत की हिंदी,

इन दोनों से अलग एक है
लोक-भारती हिंदी,
जन-जन के जीवन के हित की, समतावादी हिंदी,
श्रम-संवाहक, सदाचार की धार-प्रवाहक हिंदी,
मानव-मूल्यों की संस्थापक,
उच्चादर्शों की उद्भासक हिंदी,
अहंवाद औ' वेदवाद की नाशक हिंदी

रूढ़िवाद की रीढ़ तोड़ती,
वर्णवाद की जड़ उखाड़ती,
प्रेम-प्रीत-प्रतिपालक हिंदी,
नयी-नयी फसलों की शोभा-श्री से संयुत
अन्न-प्राणमय हिंदी,
बाग-बगीचों के फल-फूलों की
सुगंधमय और स्वादमय हिंदी,
तरुण-तरुणियों के कुश-कंटकमय जीवन की
साहस-सेवी हिंदी,
आँखों से बरसी करुणा की धारा हिंदी,
धूमधाम-उत्सव-पर्वों की मत्त मयूरी हिंदी,
षट ऋतुओं की प्राकृत छवि से चित्रित हिंदी,
बारहमासा-कजरी गाती, फाग-सुनाती हिंदी,
धूप-धूपायी,
चंद्र-चाँदनी-रूप-नहायी हिंदी,
जन-बोली को कंठ लगाये हिंदी,
उर्दू को प्रिय सखी बनाये हिंदी,
प्रांत-प्रांत के जन-मानस के
भाव-विचारों को अपनाये हिंदी,
हृदय-हृदय के सिंधु-समायी हिंदी
यही यही है लोक-भारती-
विश्व भारती हिंदी।

सर्वोपरि है इसकी सत्ता,
अकथनीय है इसकी महिमा और महत्ता ।
मानव जीवन की समग्रता
इसकी बनी इयत्ता ।

हिंदी-दिवस
इसी हिंदी का आज मनायें,
इसका-अपना परम सुधी संसार बनायें ।

बाँदा, सितम्बर, 1976

कविता की जरूरत

अँधेरा फाड़कर

रात को तिरोहित कर देने का काम ही नहीं

वरन्

सृष्टि की समग्रता को

धूप के पारदर्शी आईने में

उजागर कर देने का काम भी

सूरज करता है

और ऐसे ही

समर्थ और साहसी सूरज को

—उसके ताप-दाप और प्रकाश के साथ—

शब्दों में बिम्बित करने का काम

कविता होती है

जो आदमी की बनायी हुई

उसी की सही पहचान होती है,

और उसी की

सम्बद्धता और सम्पृक्तता का

सार-गर्भित मौलिक बयान होती है,

दिक् और काल भी जिसमें समाहित रहते हैं:

मानवीय निरन्तरता में
प्रगल्भित और प्रवाहित रहते हैं ।
इसीलिए तो
आदमी को कविता की जरूरत है
और कविता को आदमी की जरूरत है ।

बाँदा, सितम्बर, 1975

सुबह की नदी

जी, हाँ,
सुबह हुई है,
पानी की देह में सूरज उगा है,
नदी का जीवन
जानदार हुआ है,
पत्थर चाटना
अब उसे अपने लिए
स्वीकार हुआ है,
तट का तोड़ना
अब दूसरों के लिए
दरकार हुआ है।

बाँदा, मार्च, 1977

तमिलनाडु के पेड़

प्रकाशित पत्तियों का

सागर सिर पर उठाये,
तमिलनाडु के हृदय में जड़ें अपनी
गहरे गड़ाये,
खाद उसकी खाये,
गठे-गठाये,
कुल के कुलीन और अकुलीन
भिन्न और अभिन्न गोत्रीय,
छोटे-बड़े पेड़,

प्राचीन से

अर्वाचीन को जिलाये,

न कष्ट से

कसमसाये,

न अंधड़-आँधियों से डगमगाये,
परार्थी बने, अब तक खड़े हैं,
दान देने में कर्ण से बड़े हैं,
समयानुसार खिले और फले हैं,
जमीन को जानदार बनाये, भले हैं।

मद्रास, जून, 1971

अक्षम हूँ मैं

आतंकित करता है मुझे मेरा सम्मान।
इसी वक्त तो परास्त करती हैं मुझे
मेरी कमजोरियाँ।
काँपता हूँ मैं, यश की विभूति से विभूषित,
रक्त-चंदन का टीका भाल पर लगाये,
पुष्प-माल के रूप में
सर्प-माल को लटकाये।
अक्षम हूँ मैं असमर्थताओं का पुतला,
गौरव-गुन-हीन, अबलीन, धुँधला,
काल-पीड़ित कविता में
बहुत-बहुत दुबला।
रहने दो बंधु!
मुझे रहने दो अवहेलित,
जीने दो जीवन को तापित औ' परितापित,
निष्कलंक रह लूँगा
चाहे रहूँ अवमानित।

बाँदा, सितम्बर, 1976

असमर्थता

लहकती है
जीने की ललक,
मौत के घेराव में,
और भी अधिक—
और भी अधिक।

असमर्थ हैं
बुजुर्ग हाथ
काँपते-काँपते,
घेराव तोड़ने में,
और भी अधिक—
और भी अधिक।

शब्द हो गये शालीन,
सौजन्य के सर-परस्त,
आग की मार
मुँह से नहीं करते—
एक भी बार—
एक भी बार।

बाँदा, सितम्बर, 1976

मई का मदरास

घूमते मदरास में
घूमती है किरन-केशी
अनबुझ सफेद आग।
देह में दहकती खड़ी हैं
सुन्दर गुनाह किये,
सूर्य से दंडित,
ऊँची इमारतें।
हवा हुआ उड़ता है
तापित-तड़पता,
महानगर के जिस्म का अँगरखा-
लपट की तरह लिपटता।
हरे-हरे हँसते हैं,
हरा किये आग की अँगुलियों को,
खड़े-खड़े, यहाँ-वहाँ पेड़।
पहियों से, कुचल रहा
सूरज का अगिन-यान
सागर का वक्ष,
और लहरों की भीड़।

मद्रास, मई, 1976

कुछ भी नहीं मौत

नहीं,

कुछ भी नहीं है मौत !
अब भी हाथ हैं हाथ,
मौत का मुँह तोड़ देने वाले हाथ ।

नहीं,

कुछ भी नहीं है मौत !
अब भी पाँव हैं पाँव,
मौत का दिल रौंद देने वाले पाँव ।

नहीं,

कुछ भी नहीं है मौत !
अब भी आँख है आँख,
मौत को भस्म कर देने वाली आँख ।

नहीं,

कुछ भी नहीं है मौत !
अब भी साँस है साँस
मौत को सर कर देने वाली साँस ।

बाँदा, अगस्त, 1973

मेरा यार वसंत

तुम भी आ गये, मेरे यार वसंत!
जेल से निकल आये बंदियों के स्वागतार्थ,
पहनाने को उन्हें अपना पुष्पहार—

खुशनुमा, खुशबूदार।

आओ मेरे यार! तुम भी देख लो,
हड़बड़ी में हो रहा है इस बार का चुनाव-अभियान।
प्रधानमंत्री ने कर दिया है इस बात का एलान,
मार्च में पड़ेंगे लोक सभा की सीटों के लिए वोट।
इंतजार में तब तक मौज से खाओ बादाम और अखरोट।
कोई नहीं अब कर सकता तुम पर एक भी चोट।
खिले ही रहेंगे तब तक तुम्हारे मन-पसंद गेंदे,
हाँसते ही रहेंगे तब तक तुम्हारे गरबीले गुलाब।
मस्त होकर,

बाग और बगीचों में विहार करो, मेरे यार!
रंग और रूप से प्रकृति का शृङ्गार करो, मेरे यार!!
अनुराग के यज्ञ से,
दुख-दर्द और कल्मष हरो, मेरे यार!

बाँदा, 24-1-1977

मेरा आदर्श

आदर्श

जब देवता के रूप में रहता है

तब मैं

सिर नहीं झुकाता।

उसके सामने।

परन्तु जब वह

यथार्थ के शरीर में

भरी भीड़ में मुझे मिलता है

तब मैं उसे

अपने गले से लगाता हूँ;

और

इस पुराने यार से मिलकर,

बाग-बाग होता हूँ,

मेरा आदर्श,

देवता नहीं—

भीड़ का यथार्थ आदमी है।

बाँदा, 10-7-1965

दीवार गिरने के बाद

गिर गयी दीवार के प्रति कृतज्ञ हूँ मैं।

जड़ थी दीवार

इसलिए गड़बड़ थी।

न रही दीवार,

न रही गड़बड़।

न उठाऊँगा अब मैं उसे

जमीन पर,

सिर से ऊपर,

आसमान तक,

बचने-बचाने के लिए।

अब साफ है

मेरे आने-जाने का रास्ता;

आदमियों के साथ

जमीन को स्वर्ग बनाने का रास्ता;

स्वर्ग की 'डेहरी' पर पहुँचकर

गाने-बजाने का रास्ता;

नये निर्माण की नयी नगरी में

आयु के शेष दिन बिताने का रास्ता।

बाँदा, अगस्त, 1965

व्यक्ति-व्यक्ति का जीना

कोई कुछ कहे,
विपरीत चाहे हवा बहे,
यथार्थ से लड़ना—
सत्य को आँख से—
विवेक से—
पकड़ना,
यही तो है
व्यक्ति-व्यक्ति का
समाज में जीना,
न कि अकेले बैठकर
शराब का पीना।

बाँदा, अगस्त, 1965

सिफर सूरज

सुबह से सिर का
सिफर सूरज
न खुश है—
न खूबसूरत;
न कैद है—
न मुक्त;
न आपका—
न मेरा;
न जमीन का—
न जल का;
न कल का—
न आज का।
जमीन
इस सूरज से
बाज आ गयी है
जो सिर्फ एक गोल दायरा है
ठंढे बुझे अस्तित्व का।
बाँदा, दिसम्बर, 1966





वेन्दारनाथ अग्रवाल
वत्
रचना-संसार

